आत्मजयी

(नचिकेताके प्रसंगपर आधारित)

*

कुँवर नारायण



भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

ज्ञानपीठ लोकोदय ग्रन्थमाला ग्रन्थांक – २०८
सम्पादक एवं नियामक
लक्ष्मीचन्द्र जैन

ATMAJYI
(Verse)
KUNWAR NARAYAN
Bharatiya Jnanpith
Publication
First Edition 1965
Price Rs 3.80
©
प्रकाशक
भारतीय ज्ञानपीठ
प्रधान कार्यालय
९ अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता २७
प्रकाशन कार्यालय
दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी ५
विक्रय केन्द्र
३६२०।२१ नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली ६
प्रथम संस्करण १९६५
मूल्य तीन रुपये अस्सी पैसे
सन्मति मुद्रणालय, वाराणसी–५

भूमिका

'आत्मजयी' में उठायी गयी समस्या मुख्यत एक विचारशील व्यक्ति की समस्या है—केवल ऐसे प्राणीकी समस्या नहीं जो दैनिक आवश्यकताओंके आगे नहीं सोचता, या नहीं सोच पाता। कथानकका नायक नचिकेता मात्र सुखोंको अस्वीकार करता है तात्कालिक आवश्यकताओंकी पूर्ति भर ही उसके लिए पर्याप्त नहीं। उसके अन्दर वह बृहत्तर जिज्ञासा है, जिसके लिए केवल सुखी जीना काफी नहीं, सार्थक जीना जरूरी है, जो उसे साधारण प्राणीसे विशिष्ट उन मनुष्योंकी कोटिमें रखती है जिन्होंने सत्यकी खोजमें अपने हितको गौण माना, कायिक जीवनको स्वप्न समझा, जिन्होंने ऐन्द्रिय सुखोंके आधारपर ही जीवनसे समझौता नहीं किया, बल्कि उस चरम लक्ष्यके लिए अपना जीवन अर्पित कर दिया जो उन्हें पानेके योग्य लगा।

नचिकेताकी चिन्ता भी अमर जीवनकी चिन्ता है। 'अमर जीवन' से तात्पर्य उन अमर जीवन मूल्योंसे है जो व्यक्तिका अतिक्रमण करके सार्वकालिक और सार्वजनीन बन जाते हैं। नचिकेता इस असाधारण खोजके परिणामोंके लिए तैयार है। वह अपने आपको इस धोखेमें नहीं रखता कि सत्यसे उसे सामान्य अर्थोंमें सुख ही मिलेगा, लेकिन उसके बिना उसे किसी भी अर्थमें सन्तोष मिल सकेगा, इस बारेमें उसे घातक सन्देह है। यमसे साक्षात मृत्यु तकसे!—उसका हठ एक दृढ़ जिज्ञासुका हठ है जिसे कोई भी सांसारिक वरदान डिगा नहीं पाता।

नचिकेता अपना सारा जीवन यम, या काल, या समयको सौंप देता है। दूसरे शब्दोंमें, वह अपनी चेतनाको कायसापेक्ष समयसे मुक्त कर लेता है वह विशुद्ध 'अस्तिबोध' रह जाता है जिसे 'आत्मा' कहा जा

सकता है। आत्माका अनुभव तथा इन्द्रिया-द्वारा अनुभव, दो अलग बातें मानी गयी हैं। भारतके प्राचीन चिन्तकोंने यदि इन्द्रियोंको प्रधानता नहीं दी, तो इसका यह अर्थ नहीं कि उन्होंने शरीर या संसारको झूठ माना, बल्कि यह कि उन्होंने बुद्धि और बुद्धिसे भी अधिक जो सूक्ष्म हो उस आत्माको अधिक महत्त्व दिया। वे कठिन आत्मनिग्रह-द्वारा सिद्ध करते रहे कि विषयोंके अधीन बुद्धि नहीं, बुद्धिके अधीन विषय हैं। शारीरिक जीवन जीते हुए भी शरीरके प्रति अनासक्त रहा जा सकता है। उनका अनुभव था कि बिना आत्म बलके मनुष्य अपनी शक्तियोंका उचित उपयोग नहीं कर सकता, चालक विहीन रथकी तरह निरंकुश अश्वों द्वारा नष्ट भ्रष्ट कर दिया जायेगा। किसी भी महान् ध्येयके लिए अर्पित होनेसे पहले अपने इस आत्मविश्वासको पाना अत्यन्त आवश्यक है। तभी मनुष्य अपने लिए, तथा सबके लिए, निजी सुख सुविधाओंसे बृहत्तर कुछ प्राप्त कर सकता है—अपना जीवन किसी अमर अर्थमें जी सकता है। जब वह जीवनसे केवल कुछ पानेकी ही आशापर चलनेवाला असहाय प्राणी नहीं, जीवनको कुछ दे सकनेवाला समर्थ मनुष्य हो। उसके लिए तब यह चिन्ता सहसा व्यर्थ हो जायेगी कि जीवन कितना असार है, उसकी मुख्य चिन्ता यह होगी कि वह जीवनको कितना सारपूर्ण बना सकता है। यथार्थ अब उसके बाहर नहीं, उसमें है, उससे है—अन्यथा वह कुछ नहीं है। सम्पूर्ण बाह्य परिस्थिति या तो उसकी चेतनासे विकीर्ण है—चेतना जो उसके वशमें है, चीजोंके वशमें नहीं—या फिर अँधेरी है। वह चाहे तो सब कुछ अस्वीकार करके स्वयंको कालको लौटा दे, चाहे तो उसे स्वीकार करके एक नया अर्थ दे।

पहली परिस्थितिमें नचिकेता अपने आपको कालको सौंप देता है अर्थात् वह दिये हुए बाह्य जीवनको अस्वीकार करता है। आन्तरिक जीवनके प्रति सचेत होते हुए भी वह अभी अपनेमें उस आत्म शक्तिका विकास नहीं कर पाया है जो बाहरी परिस्थितियोंसे विचलित न हो। वह निराशाके उस चरम बिन्दुपर पहुँच जाता है जहाँ साधारण जीवन कोई सान्त्वना नहीं। अस्तित्व पूर्णतः निरर्थक और असार लगता है। मनकी वह वीतराग दशा जब सारे भौतिक मूल्य समाप्त हो जाते हैं—अस्तित्व विश्व सापेक्ष नहीं रह जाता। स्वयंको सोचता हुआ व्यक्ति ही एक इकाई रह जाता है जिसके सामने दूसरी इकाई है केवल एक अनिर्वच महाशून्य। वह है, और उसके चारों ओर एक सपाट अँधेरा उस

अंधेरेमे ऐसी कोई चीज नहो जिसमे वह अपनी चेतनाको लिप्त रख सके। आत्महत्या ही उसे एक रास्ता दिखाई देता है। भय मिश्रित उत्कण्ठा उसके समस्त जीवन बोधको आक्रान्त कर लेती हैं।

पास्कालका कहना था कि इस अनन्त विस्तारका अटूट मौन मुझे भयभीत करता है। 'यह गुम्बदे मीनाई, यह आलमे तनहाई। मुझको तो डराती है इस दश्तकी पहनाई।' में इकबालका संकेत भी उसी 'भय' की ओर है जिसे हम जगह जगह साहित्य और दर्शनमे व्यक्त हुआ पाते हैं और जो आधुनिक अस्तित्ववादी दर्शनके भी मूल आधारोंमें-से है। लेकिन इस 'भय' या 'उत्कण्ठा' का परिणाम अन्तत निराशावादी ही होगा, ऐसा मानना भारतीय दर्शनके एक महत्त्वपूर्ण स्थिति निरूपणको ही गलत समझना होगा। मृत्युके चिन्तनसे जीवनके प्रति निराशा ही पैदा हो, ऐसा आवश्यक नहीं—कोई नितान्त मौलिक दृष्टिकोण भी जन्म पा सकता है। मृत्युकी गहरी अनुभूतिने जीवनको असमर्थ कर दिया हो, इससे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण ऐसे उदाहरण मिलेंगे जहाँ चिन्तककी दृष्टि कुछ इस तरह पैनी हुई कि वह मृत्युसे भी अधिक शक्तिशाली कुछ दे जानेके प्रयत्नमे जीवनको असाधारण कोई निधि दे गया। वृहदारण्यकम् 'अभय वै ब्रह्म' मे विश्वास करनेवाले याज्ञवल्क्य ज्ञानके जिस आदर्शको प्रतिष्ठित कर गये वह मृत्युसे परेकी चीज है। बुद्ध रोग, जरा, मृत्युको विचारते हुए जीवनको एक ऐसा दर्शन दे गये जो उनके बाद सैकड़ों वर्षोंसे जीवित है। शंकराचार्य, कबीर आदि दर्जनों ऐसे उदाहरण मिलेंगे जिनकी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि मृत्युकी तीव्र अनुभूतिके कारण उत्तेजित हुई। मृत्युके प्रति निरपेक्ष भी रहा जा सकता है, जैसे जीवनके बहुत से तथ्योंके प्रति निरपेक्ष रहते हुए भी एक कामचलाऊ जीवन-दर्शन बनाया जा सकता है। लेकिन मैं इस भयको निराधार मानता हूँ कि मृत्युका चिन्तन भी जीवनके लिए उसी प्रकार घातक होगा जैसे मृत्यु स्वयं। मृत्युको सोचनेका यही परिणाम नहीं कि आदमी उसके सामने घुटने टेक दे और हताश होकर बैठ रहे। मृत्युका सामना करना, उसपर विजयी होनेकी कामना भी बिल्कुल स्वाभाविक है। वह ऐसा कुछ करना चाह सकता है जिसे मृत्यु कभी, या आसानीसे, नष्ट न कर सके। मृत्युसे बड़ा होनेके प्रयत्नमे वह जीवन ही से बड़ा हो जा सकता है। लेकिन यदि हम जीवनसे मृत्युके बारेमें सोचना ही निकाल दें, तो अधिक सम्भावना यही है कि हम किसी ऐसे जीवन दर्शनको अपनाकर चलेंगे जिसकी तात्कालिक सफलता उतनी

ही आसान और कल्पनारहित होगी, जितनी अस्थायी। अगर हम उतने ही से सन्तुष्ट हो सकते हैं जितनेसे मृत्युके बारेमें कभी न सोचनेवाले जीव हुआ करते हैं, तो मृत्यु क्या, किसी भी यथार्थके बारेमें गम्भीर चिन्तनकी दलील व्यर्थ है।

यह आत्महत्याका बिन्दु, जिस तक नचिकेता पहुँचता है, मुझे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण लगा—प्राचीन तथा आधुनिक दोनों ही सन्दर्भोंमें। भारतीय दर्शनकी तो शायद ही ऐसी कोई महत्त्वपूर्ण धारा हो जिसका प्रवर्तक इस तरहकी वीतराग स्थितिसे नहीं गुजरता। मृत्युको विचारते हुए सहसा जीवनसे उपराम हो जाते हुए बुद्धकी निराशा नचिकेताकी निराशासे बहुत भिन्न नहीं। इसी प्रकार गीतामें, 'युद्ध नहीं करूँगा' कहकर अर्जुन जब हथियार डाल देता है उस समय जीवनकी असारताके प्रति अकस्मात् सचेत हुए अर्जुनकी वेदनाका कोई अन्त नहीं। नचिकेता की ही तरह, पहली परिस्थितिमें ये सब अपने आपको किसी न किसी रूपमें संसारकी अपेक्षा समाप्त कर लेते हैं।

इस बिन्दुसे हम देखते हैं कि प्रत्येक चिन्तक लौटता है—फिर एक बार जीवनकी ओर। वह फिरसे जीवनको जीता है किसी ऐसे सत्यके लिए जिसे वह समझता है अमर है। यही उसका शाश्वत जीवन है, अमर जीवन है। वह सत्य 'निर्वाण' हो सकता है, वह सत्य 'ईश्वर' हो सकता है वह सत्य 'ब्रह्म' हो सकता है—वह सत्य कोई ऐसा जीवन-सत्य हो सकता है जो मरणधर्मा व्यक्तिगत जीवनसे बड़ा हो अधिक स्थायी हो या चिरस्थायी हो।

वे इस सार्थक अनुभूति तक पहुँचते हैं कि निजी सुख सुविधा भर ही सोजना जीवनका चरम लक्ष्य नहीं। उससे कोई स्थायी सन्तोष—और एक विचारशील मनुष्यके लिए अस्थायी सन्तोष तक मिलना कठिन है। जीवनके पूर्णानुभवके लिए किसी ऐसे मूल्यके लिए जीना आवश्यक है जो जीवनकी अनश्वरताका बोध कराये। यही उसको सान्त्वना दे सकता है कि मरते होते हुए भी मनुष्य किसी अमर अर्थमें जी सकता है।

'आत्मजयी' में मैंने केवल इस दृष्टिकोण भरको सामने रखनेका प्रयत्न किया है—किसी निश्चित दार्शनिक या नैतिक या धार्मिक या सामाजिक मूल्यका प्रतिपादन नहीं। 'आत्मजयी' मूलतः जीवनकी सृजनात्मक सम्भावनाओंमें आस्थाके पुनर्लाभकी कहानी है।

'कठोपनिषद' से लिये गये नचिकेताके कथानकमें मने थोडा परिवर्तन किया है, लेकिन इतना नही कि आधार कथाकी वस्तुस्थिति ही भिन्न हो गयी हो। मूल कथाको बिना अधिक बिगाडे ही उसे एक आधुनिक ढगसे देखा गया है, पौराणिक दिव्य कथाके रूपमें नही।

अपने पिता वाजश्रवासे धर्म कर्म सम्बन्धी मतभेदोंके परिणाम स्वरूप अत्यन्त खिन्न नचिकेता आत्महत्याके लिए अपनेको पानीमें डुबा देता है। मेरे-द्वारा लिये गये प्रसगमें यह अपरिमित है कि वह वास्तवमें मरता नही, मरनेसे पहले ही पानीसे बाहर निकाल लिया जाता है, लेकिन अचेतावस्थामें। इसी अचेतावस्थामें वह स्वप्न देखता है—यमसे साक्षात्कार। यम उसके अन्तर्मनमें स्थित मृत्युका ही पौराणिक रूप है। कठोपनिषद्में उसे तीन दिन तक यमके द्वारपर भूखा प्यासा यमके लौटनेकी प्रतीक्षा करते दिखाया गया है। लौटनेपर यम अतिथिके प्रति हो गयी इस अप्रत्याशित उपेक्षाके प्रतिकार स्वरूप उसे तीन वरदान देते हैं।

पहला यह कि वाजश्रवाका नचिकेताके प्रति क्रोध शान्त हो, दूसरा यज्ञाकी नचिकेताग्नि, तीसरा मृत्युके रहस्यका उद्घाटन। मैंने 'आत्मजयी' में पहले और तीसरे वरदानके आधारपर ही जीवन सम्बन्धी कुछ धारणाओंपर विचार किया है।

नचिकेता और वाजश्रवाकी असहमति, तथा वाजश्रवाका क्रोधमें नचिकेताको मृत्युको दे देना, न केवल नयी और पुरानी पीढ़ीके संघर्षका प्रतीक है बल्कि उन वस्तुपरक वैदिक तथा आत्मपरक उपनिषत्कालीन दृष्टिकोणोंका भी प्रतीक है जिनका एक रूप हम अपने आजके जीवनमें भी पाते हैं। एक ओर तो दिन-दूनी रात चौगुनी बढती हुई हमारी भौतिक उन्नति, दूसरी ओर आत्मिक स्तरपर वह घोर असयम जो इस भौतिक प्रगतिको अपने ही लिए अभिशाप बनाये ले रहा है। वैदिककालीन मनुष्य भी आजकी ही तरह, यद्यपि आजसे कही अधिक सीमित परिवेशमें, प्राकृतिक शक्तियोंको यज्ञादि-द्वारा अपने अनुकूल रखना चाहता था। उसका दृष्टिकोण मूलत वस्तुवादी था जिसकी प्रतिक्रियामें ही उपनिषत्कालीन अध्यात्मका विकास हुआ। परोक्ष रूपसे मेरे मनमें यह साम्य भी था कि वाजश्रवा वैदिक-कालीन वस्तुवादी दृष्टिकोणका प्रतीक है और नचिकेता उपनिषत् कालीन आत्मा-पक्षका प्रतीक। उपनिषद् आत्मा या मनुष्यके आन्तरिक जीवनको प्राथमिकता देते हैं, यह मानते हुए कि बिना जीवनको आन्तरिक स्तरपर संयमित किये सारी भौतिक प्रगति न केवल

बेकार बल्कि खतरनाक साबित हो सकती है। स्पष्टतः नचिकेतापर यह तक लागू नहीं होता कि यदि एक व्यक्तिका आर्थिक और सामाजिक जीवन सन्तुष्ट है, तो उसका आन्तरिक जीवन भी सन्तुष्ट होगा। सच पूछा जाये तो नचिकेताके सारे असन्तोष और विद्रोहका मूल कारण ही वह वस्तुवादी दृष्टिकोण है जो मृत्युके आगे उसे कोई सान्त्वना नहीं दे पाता। नचिकेता जीवनके प्रति असम्मान नहीं दिखाता, क्योंकि उसके स्वभावमें कुण्ठा या विकृति नहीं। बादमें उसका जीवनको फिरसे स्वीकार करना, इस बातका द्योतक है कि उसका विरोध जीवनसे नहीं, उस दृष्टिकोणसे है जो जीवनको सीमित कर दे।

'मृत्युमुखात्प्रमुक्तम' खण्ड में आये नचिकेताकी वे प्रतिक्रियाएँ हैं जब वह अपने जीवनको एक तरहसे पूरा खो चुकनेके बाद फिरसे प्राप्त करता है, और यह अद्वितीय उपलब्धि उसे नये सिरेसे जीनेके एक महान अवसरका बोध कराती है। जीवनको इस तरह खोकर ही वह उसके वास्तविक मूल्यका अनुभव कर पाता है।

यही वह दूसरी परिस्थिति है जब एक चिन्तन एक बार जीवनसे उपराम होकर आत्महत्याके बिन्दुसे पुनः जीवनकी ओर लौटता है। गीता-के शब्दोंमें, आसक्त भावसे नहीं—आत्म शक्तिको पूर्णतः प्राप्त करके।

ये कविताएँ 'कठोपनिषद्' की व्याख्या नहीं हैं। 'कठोपनिषद' के विभिन्न श्लोकोंसे केवल संकेत भर ही लिया गया है—बिना उनके अर्थ, या कठोपनिषदमें उनके क्रमको, कविताओंके लिए किसी प्रकारका बन्धन माने। अक्सर कविताओं और श्लोकोंके मन्तव्योंमें बुनियादी अन्तर तक मिल सकता है, लेकिन इस अन्तरके बावजूद प्रयत्न यही रहा कि सम्पूर्ण कृतिमें वैचारिक विषमता न आने पाये।

'आत्मजयी' में ली गयी समस्या नयी नहीं—उतनी ही पुरानी है (या फिर उतनी ही नयी) जितना जीवन और मृत्यु सम्बन्धी मनुष्यका अनुभव। इस अनुभवको पौराणिक सन्दर्भमें रखते समय यह चिन्ता बराबर रही कि कहीं हिन्दीकी रूढ़ आध्यात्मिक शब्दावली अनुभवकी सच्चाईपर इस तरह न हावी हो जाये कि 'आत्मजयी' को एक आधुनिक कृतिके रूपमें

पहचानना ही कठिन हो। उपनिषद यम, नचिकेता, आत्मा, मृत्यु, ब्रह्म किसी भी नये कविके लिए इन प्राचीन शब्दोंकी अश्वत्थ जड़ें, प्रेरणा शायद कम, चेतावनी अधिक होनी चाहिए! फिर भी मैंने यदि इस बीहड़ वनमें प्रवेश करनेका दुस्साहस किया, तो उसका एक कारण यह भी था कि मुझे ये शब्द वास्तवमें उतने बीहड़ नहीं लगे जितना उन्हें ठीकसे न समझनेवाले व्याख्याकाराने बना रखा है। उन्हें आधुनिक व्यक्तिकी मानसिक अवस्थाओंके संदर्भमें भी जाँचा जा सकता है, ऐसी आशाने भी इस ओर प्रेरित किया।

ग्रीक पुराकथाओंकी ही तरह भारतीय पुराकथाएँ भी आरम्भमें रहस्यवादी ढंगकी नहीं थीं, मनुष्य और प्रकृतिके बीच बड़े ही घनिष्ठ सम्बन्धोंका रोचक और जीवन्त कथा रूप थी। लेकिन आज हिन्दू धर्म और हिन्दू पौराणिक अतीतको अलग कर सकना लगभग असम्भव है, जब कि ग्रीक पुराकथाएँ इसाई धर्म और योरोपीय रहस्यवादसे लगभग अछूती रहीं। भारतीय पुराकथाओंपर परवर्ती धार्मिक रंग इतना गहरा है कि उसे विशुद्ध मानवीय महत्त्व दे सकना सहसा कठिन लगता है। ग्रीक पुराकथाओंमें आदि मानवकी अन्तप्रकृतिका अधिक अरजित रूप सुरक्षित मिलता है। इसीलिए कामूका 'सिसीफस' या जेम्स जॉयसका 'यूलिसिस' पुराकथात्मक चरित्र होते हुए भी धार्मिक चरित्र नहीं लगते—उन्हें 'साहस' जैसे नितान्त मानवीय गुणका प्रतीक मानकर चलनेमें उस प्रकारका धार्मिक व्यवधान बीचमें नहीं आता, जैसा अवतारवादके कारण भारतीय देवी देवताओंके साथ आता है।

नचिकेताका प्रसंग इस दृष्टिसे मुझे विशेष उपयुक्त लगा कि वह मुख्यत धार्मिक क्षेत्रका न होकर दार्शनिक क्षेत्रका ही रहा, जहाँ वैचारिक स्वतन्त्रताके लिए अधिक गुंजाइश है। दूसरे, नचिकेतापर बादमें जो थोड़ा बहुत साहित्य लिखा भी गया है उसकी ऐसी सशक्त परम्परा नहीं जो उसे फिर कोई नया साहित्यिक रूप देनेमें बाधक हो—न अबतक इस आख्यानके पुराकथात्मक पक्षको ही इस प्रकार लिया गया है कि वह आजके मनुष्यकी जटिल मन स्थितियोंकी बेहतर अभिव्यक्ति दे सके। इसीलिए मैंने 'आत्मजयी' के धार्मिक या दार्शनिक पक्षकी विशेष चिन्ता न करके उन मानवीय अनुभवोंपर अधिक दबाव डाला है जिनसे आजका मनुष्य भी गुजर रहा है, और जिनका नचिकेता मुझे एक महत्त्वपूर्ण प्रतीक लगा।

संकेतिका

■

पूर्वाभास

ओ मस्तक विराट,
अभी नही मुकुट और अलकार।
अभी नही तिलक और राज्यभार।

तेजस्वी चिन्तित ललाट। दो मुझको
सदियो तपस्याओ मे जी सकने की क्षमता।
पाऊँ कदाचित् वह इष्ट कभी
कोई अमरत्व जिसे
सम्मानित करते मानवता मम्मानित हो!

सागर-प्रक्षालित पग,
स्फुर घन उत्तरीय,
वन प्रान्तर जटाजूट,
माथे सूरज उदीय,
इतना पर्याप्त अभी।
स्मरण मे
अमिट स्पर्श निष्कलक मर्यादाओ के।
बात एक बनने का साहस सा करती।
तुम्हारे शब्दो मे यदि न कह सकूँ अपनी बात,
विधि-विहीन प्रार्थना

यदि तुम तक न पहुँचे तो
क्षमा कर देना,
मेरे उपहार – मेरे नैवेद्य –
समद्धियो को छूते हुए
अर्पित होते रहं जिम ईस्वर को
वह यदि अस्पष्ट भी हो
तो ये प्रार्थनाएँ सच्ची हैं इन्हं
अपनी पवित्रताओ से ठुकराना मत,
चुपचाप विसर्जित हो जाने देना
समय पर सूय पर
भूख के अनुपयुक्त इस किंचित् प्रसाद को
फिर जूठा मत करना अपनी श्रद्धाओ से,
इनके विधम को बचाना अपने शाप से,
इनकी भिक्षुक विनय को छोटा मत करना
अपनी भिक्षा की नाप से
उपेक्षित छोड देना
हवाओ पर, सागर पर

कीर्ति-स्तम्भ वह अस्पष्ट आभा
सूय से सूय तक,
प्राण मे प्राण तक ।
नक्षत्रो,
असवेद्य विचरण को दीपक दो
नीड-रहित पूजा को फल दो
तोरण मण्टप विहीन मन्दिर का दीपक दो
जब तक मैं न लौटूँ
उपासित रहं यह मन

जिस ओर मेरे शब्दो के सकेत !
जब-जब समर्थ जिज्ञासा से
काल की विदेह अतिशयता को
कोई ललकारे —
सीमा-सन्दर्भ-हीन साहस को इगित दो ।
पिछली पूजाओ के ये फूटे मगल-घट ।
किसी धर्म-ग्रन्थ के
पृष्ठ — प्रकरण — शीर्षक —
सब अलग अलग ।
वक्ता चढावे के लालच मे
बाँच रहे शास्त्र-वचन,
ऊँघ रहे श्रोतागण !

ओ मस्तक विराट,
इतना अभिमान रहे —
भ्रष्ट अभिषेको को न दूँ मस्तक
न दूँ मान
इससे अच्छा
चुपचाप अर्पित हो जा सकूँ
दिगन्त प्रतीक्षाओ को ।

वाजश्रवा

अत्र उशन्ह वै वाजश्रवस सववेदस ददौ ।
तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस ।

पिता, तुम भविष्यके अधिकारी नही,
क्योकि तुम 'अपने' हित के आगे नही सोच पा रहे,
न अपने 'हित' को ही अपने सुख के आगे ।
तुम वतमान को सज्ञा तो देते हो, पर महत्त्व नही ।
तुम्हारे पास जो है, उसे ही बार-बार पाते हो
और सिद्ध नही कर पाते कि उसने
तुम्हे सन्तुष्ट किया ।
इसीलिए तुम्हारी देन से तुम्हारी ही तरह
फिर पाने वाला तृप्त नही होता,
तुम्हारे पास जो है, उससे और अधिक चाहता है,
विश्वास नही करता कि तुम इतना ही दे सकते हो ।

पिता, तुम भविष्य के अधिकारी नही, क्योकि
तुम्हारा वतमान जिस दिशा म मुडता है
वहा कही एक भयानक शत्रु है जो तुम्हे मार कर
तुम्हारे सचयो को माग मे ही लूट लेता है,

और तुम खाली हाथ लौट आते हो।

वह जो शाप से डाकू किन्तु जन्म से राजा है,
उसका उद्दण्ड सवाल – "भविष्य चाहिए ये अधमरी
गायें नहीं।"

और तुम हमारी ओर – हम जो अभी आने वाले हैं –
सन्देह से देखते हो अपना संचय
छोड़ जाने से पहले, क्योंकि हम उसे
तुम्हारे अनुकरण से बृहत्तर कोई विशिष्टता देना चाहते हैं।

तुम भी एक प्राणी हो
सबकी तरह समय के बने
जिसे सिंहासन एक भूमिका देता है,
मुकुट एक शीर्षक,
सेना एक कर्तव्य,
स्वरक्षा एक धर्म,
सभासद एक दायित्व
पर ये सब तुम्हें इस तरह हर लेते हैं
कि तुम्हे पहचानना कठिन हो जाता है।

कभी तुम्हे विशाल सेना के मध्य रण करते,
कभी आखेट करते,
कभी न्यायाधीश पद से मुखरित,
कभी अन्तःपुर में विलास करते
एक साथ देखता हूँ

और लगता है कि हर जगह तुम अतिरंजित हो,
इसीलिए अवास्तविक।
तुम हर जगह भूख प्यास वाले साधारण प्राणी हो
जिसके मुकुट और सिंहासन पर
सूर्य की किरण इस तरह पड रही है
कि तुम दिव्य दिखते हो पर यह सारी शोभा
सूर्यास्त होते ही बिलख उठेगी।

एक साप उस मुकुट म छिपा है –
दोनो को अपने से दूर फेंक दो।
तुम्हारे सिंहासन के पीछे अभी-अभी
एक तीर की नोक चमकी थी।
रनिवास मे यह असमय विलाप कैसा ?
मनहूस काली आकृतिया खम्भो से लगी हुई
– यह सब क्या मेरा भ्रम है ? या
इन्ह न देख पाना तुम्हारा ?
रहस्यमय कानाफूसिया,
पेचीदा मन्त्र जाप ? या गुप्त मन्त्रणाएँ ?
यह दान ? या अज्ञात वधिको से कोई अशुभ समझौता ?
पिता,
ये सब कैसे सकेत है, जो आश्वस्त नही करते –
ये कैसी स्तुतिया है, जिनसे
पाखण्ड की ग ध आती है ?

गल्त जीने से
सही बातें गल्त हो जाती है। –

सचाइयाँ झूठ लगती,
अच्छाइयाँ गुनाह,
धम पाप हो जाता,
ईश्वर आततायी,
प्यार रोग बन जाता,
लोभ भयावह

यह भी सम्भव है कि एक पशु दूसरे को खा जाये ।
यह भी सम्भव है कि एक मनुष्य ।
अस्तित्व एक घातक तर्क भी हो सकता है
एक पाशविक भावना भी – इस तरह
कि युद्ध और कलह जरूरी लगे,
स्वार्थ और छल से जीना मजबूरी लगे ।
यदि यथाथ है मृत्यु भी
तो मृत्यु ही यथाथ हो जा सकती है
इस तरह कि वह जीवन पर छा जाये –
एक सम्भावना से बढकर आवश्यकता बन जाये
और हम उसे रोज के व्यवहार मे बोले, दिखाये, फैलाये ।
एक स्तर पर
विद्वेप, क्रूरता, हिंसा, बेईमानी
सब कुछ इतना सम्भव है कि स्वाभाविक लगे, –
और उसी स्तर पर हमम से हर एक जी सकता है
पागलो की तरह
एक दूसरे से त्रस्त, पीडित और अपमानित ।

तुम्हारे इरादो मे हिंसा,

राग पर रक्त – ।
तुम्हारे इच्छा करते ही हत्या होनी है ।
तुम समृद्ध होगे
लेकिन उससे पहले
समझाओ मुझे अपने कल्याण का आधार
ये निरीह आहुतियाँ । यह रक्त । यह हिंसा ।
ये अबोध तड़पने । बीमार गाया-सा जन-समूह ।

"मेरी आस्था को बल दो" – कहते ही
तुम्हारा हाथ ऊपर उठता है – एक वध और,
यह अंतिम है । इसके बाद वरदान ।
मेरी आस्था कांप उठती है ।
मैं उसे वापस लेता हूँ ।
नहीं चाहिए तुम्हारा यह आश्वासन
जो केवल हिंसा से अपने को सिद्ध कर सकता है ।
नहीं चाहिए वह विश्वास, जिसकी चरम परिणति हत्या हो।
मैं अपनी अनास्था में अधिक सहिष्णु हूँ ।
अपनी नास्तिकता में अधिक धार्मिक ।
अपने अकेलेपन में अधिक मुक्त ।
अपनी उदासी में अधिक उदार ।

नचिकेता

तँ ह कुमारँ सन्त दक्षिणासु नीयमानासु
श्रद्धाविवेश सोमन्यत ॥

असहमति को अवसर दो। सहिष्णुता को आचरण दो
कि बुद्धि सिर ऊँचा रख सके
उसे हताश मत करो काइया स्वार्थों से हरा हरा कर।
अविनय को स्थापित मत करो,
उपेक्षा से खिन्न न हो जाय कही
मनुष्य की साहसिकता।
अमूल्य थाती है यह सब की,
इसे स्वर्ग के लालच मे छीन लेने का
किसी को अधिकार नही।
आह, तुम नही समझते पिता, नही समझना चाह रहे,
कि एक-एक शील पाने के लिए
कितनी महान् आत्माओं ने कितना कष्ट सहा है
सत्य, जिसे हम सब इतनी आसानी से
अपनी अपनी तरफ मान लेते हैं, सदैव
विद्रोही-सा रहा है!

तुम्हारी दृष्टि मे मै विद्रोही हूँ
क्योकि मेरे सवाल तुम्हारी मान्यताओ का उल्लघन करते हैं।
नया जीवन-बोध सन्तुष्ट नही होता
ऐसे जवाबो से जिनका सम्बन्ध
आज से नही अतीत से है,
तक से नही रीति से है।

यह सब धम नही – धम सामग्री का प्रदशन है।
अन्न, घृत, पशु, पुरोहित, मै
शायद इस निष्ठा मे हर सवाल बाधा है
जिसमे मनुष्य नही अदृश्य का साझा है।
तुम सब चतुर और चमत्कारी।
बहुमत यही है – ऐसा ही सब करते –
(कितनी शक्ति है इस स्थिति मे।)
जिससे भिन्न सोचते ही
मै विधर्मी हो जाता हूँ—
किसी बहुत बडी सख्या से घटा दिया जाता हूँ
इस तरह
कि शेष समथ बना रहता गलत भी,
एक – सही भी, अनथ हो जाता है।

सामूहिक अनुष्ठानो के समवेत मन्त्र-घोष
शख-स्वरो पर यन्त्रवत् हिलते नर-मुण्ड आखे मूँद
इनमे व्यक्तिगत अनिष्ठा
एक अनहोनी बात
जिसके अविश्वास से
मन्त्र झेंपते है, देवता मुकर जाते, वरदान भ्रष्ट होते।

तुम जिनसे माँगते हो
मुझे उनकी मागो से डर लगता ।
इस समझौते और लेन-देन म कहो
व्यक्ति के अधिकार नष्ट होते
अँधेरे मे – "जागते रहो" – अभ्यस्त आवाजो म
सचेत करते पहरेदार । नैतिक आदेशो के
पालतू मुहावरे सोते-जागते कानो म साथ ही
एक अलग व्यापार ईमान के चोर-दरवाजो से !

मनुष्य स्वर्ग के लालच मे
अक्सर उस विवेक तक की बलि दे देता
जिस पर निर्भर करता
जीवन का वरदान लगना ।

मैं जिन परिस्थितियो मे जिन्दा हूँ
उन्हे समझना चाहता हूँ – वे उतनी ही नही
जितनी ससार और स्वर्ग की कल्पना से बनती है
क्योकि व्यक्ति मरता है
और अपनी मृत्यु मे वह बिल्कुल अकेला है ,
विवश
असान्त्वनीय ।

एक नग्नता है नि सकोच
खुले आकाश की
शरीर की अपेक्षा ।
शरीर हवा मे उडते वस्त्र आसपास,

मै किसी आदिम निर्जनता का अमभ्य एकान्त
जितना ढँका उससे कही अधिक अनावृत
घातक, अश्लील सचाइयाँ
जिन्हे सब छिपाते
पर जिनसे छिप नही पाते।
इन्द्रासन का लोभ,
प्रत्येक जीवन
मानो किसी असफल षड्यन्त्र के बाद
पूरे संसार की निर्मम हत्या है।

एक आत्मीय सम्बोधन — तुम्हारा नाम,
स्मृति खण्डो के बीच झलकता चितकबरा प्रकाश।
एक हँसी बन्द दरवाजो को खटखटाती। सुबह
किसी बच्चे की किलकारी से तुम जागे हो, पर
आँखें नही खोलते। उसके उत्पात ने तुम्हे विभोर
कर दिया है पर, नया दिन, आलस्य की करवटो से
टटोलते — तुम नही देखते कि यह दूसरा दिन है,
और वह बालक जिसने तुम्हे जगाया, अब बालक नही।
प्यार अब पर्याप्त नही।
न जाने कितनी वृत्तियो मे उग आया, वह
तुम्हारा विश्वबोध और अपना।
भिन्न, प्रतिवादी, अपूर्व
अब उसे स्वीकारते तुम झिझकते हो,
उसे स्थान देते पराजित,
उसे उत्तर देते लज्जित

वाजश्रवा का क्रोध

मृत्यवे त्वा ददामि

तैयारियाँ जिनसे घेर कर तुम अपने को
कृतार्थ समझ रहे
ये विधान और प्रणालियां — जिनके पार
तुम मुझे तुडे मुडे-से दीखते
देखो मुझे भी।—
तुम जिन वस्तुओं को प्रिय या अप्रिय कहते
यदि केवल उनमें हूँ,
तो मुझे भी त्याग कर
मुझसे श्रेष्ठतर कुछ मांगो!

लेकिन यदि तुम्हारे अनुसरण से भिन्न भी
मेरी कोई सत्ता है
तो उसे आक्रान्त मत करो। अवसर दो
कि वह पनप सके प्रसन्न
खुली धूप और ताजी हवा में
उसे अपनी शक्ति से नष्ट मत करो,
उससे शक्ति ग्रहण करो, क्योंकि तुम्हें

अभी उसके द्वारा भविष्य में भी जीना है,—
केवल उस तक ही समाप्त नहीं हो जाना है
जिसके आगे केवल मृत्यु है – जीवन नहीं।
देना ही है तो

"मृत्यवे त्वा ददामि।" – अकस्मात् वज्र वाक्य।
क्रुद्ध वाजश्रवा के वे क्रोध से धधकते शब्द,
नचिकेता के कोमल अन्तस् पर
छाप-सी झुलस आयी – "मृत्यवे त्वा ददामि"

शब्द मात्र
शाप की शक्ति से कहे गये। –
शब्द मात्र,
विषाद के चरम क्षणों में सहे गये।

बाहर नहीं है संघर्ष यह।
द्वन्द्व, प्रतिद्वन्द्व,
घात, प्रतिघात
यहीं अन्दर है।
यह समस्त विश्वरूप
जो कभी कुरूप कभी सुन्दर है,
बाह्य नहीं —
मानव का उभय-पुष्कल अन्तर है।

आत्मा गगनस्थल
जहां तारावत् ऊर्जा की स्फुलिंग अणुगतिया
अंकित हैं।
नसो के रक्त पथ-मे उलझे
परस्पर — प्रतिकूल — अनुचित — अनुकूल —
हम इस तरह अप्रासगिक से व्याप्त एक दूसरे मे,
        निपात एक दूसरे पर,
रेखाएँ — एक से निकलती दूसरे को काटती,
एक से छीनती दूसरे को बाटती,
कही से शुरु होती कही मिट जाती,
जहा से निकलती वही लौट-लौट आती,
इस तरह
मानो हम सिद्ध नही — सशय हैं !
अनायास असख्य
सघातक रेखाओ की निष्फल हिंसाएँ।
चीजो से अनुशासित चीजा का प्रत्यय है।
गुप्त, नष्टधर्मा प्रवृत्तियो से परिचालित
छीन-झपट करते कठपुतलो का अभिनय है।

आह, तुम अपनी समझ के बीमार तर्कों की
किसी एक दिशा मे समाप्त।
जीवन को अपने स्वाथ के उच्छिष्ट से अधिक न प्राप्त।

मेरे पिता,
तुम और तुम्हारी दुनिया,
एक दूसरे की थकी हुई प्रतिक्रिया मे युगो से रुढ,

बासी सी लगती है। सीमित कुछ लोगों तक
तरसायी सी लगती जीवन की अतुल राशि।
क्रय क्रम, आय-व्यय, रीति नीति —
पेचीदे व्यवहारों की दुनिया,
सिद्ध नहीं विकृत स्वभावों से निष्कामित,
जीने से पहले ही बीती-सी लगती है।

स्वजनो,
तुम्हारी इस रचना में केवल प्रपंच मात्र, शक्ति नहीं,
क्योंकि तुम खाली हो
फूहड़ इच्छाओं की बेकाबू भीड़-भाड़,
अनियत कुम्बन कई आपस में टकराते।

तुम्हारे अनुष्ठानोंने किसी धर्मकाण्ड बीच
देवाल् मुझे एक टेढ़े सवाल-सा जन्म दिया,
कई सिरों वाले विलक्षण बालक समान।
अपव्रत, देवनिंद्
चिल्लाकर सहस्रों पुरोहित भुजाओं ने
मुझको निषिद्ध मान
फेंक दिया जीवन के बाहर वीरानों में।

लोभ के वशीभूत गद्‌गद श्रद्धाओं के मेले में
भीड़ के प्रपंच बीच शक्ति जिज्ञासु एक —
अशुभ उपस्थिति हूँ।

मै अपनो के हठान्त सत्यो से दण्डित हूँ।
उनके विमूढ विश्वासो से हारा हूँ।
उनकी नादानी से
कुछ ऐसे अपराधी साबित हूँ
मानो अपना ही हत्यारा हूँ।

जीवन मे यह कैसा कुटिल द्वैध ?
ये कैसे विधान — निर्भय जीना अवैध ?
जीवित हूँ ? या केवल अपहृत हूँ ?
सज्ञा हूँ ? या केवल व्यवहृत हूँ ?
क्यो इतना ऊहापोह
यदि अनुकृति मात्र हूँ तुम्हारी ?

नही, नही,
मै शायद भ्रम से प्रवासी हूँ —
जन्म से अस्वीकृत हूँ
दरवाजे,
बाहर,
औ' विदा-नेत्र
अविकल अगोरते —
जैसे कही जाना है।
बालक का अनायास दौडना,
क्योकि पाव है
पाँवो मे शक्ति है।
लक्ष्य नही — साधन पहुँचने के
प्रेरक हैं गति के सकेत —
रिक्त राहो की बाह बुलाती हैं।

धर्माधिकारी,
इन प्रासादों के वासी ?
इन मिथ्या सत्यों से अब मुझको मुक्त करो।
मैं युग निर्वासित हूँ।
आजीवन वनवासी।
राजपाट परित्यागी।
भटक रहा किसी ध्येय विविध पन्थ सन्यासी।
घर से बहिष्कृत हूँ।

वे जिनसे पाया
नगण्य सुख साधन कुछ
दान मिला,
दान से अधिक एहसान मिला।
वे जिनको प्यार दिया जीवन को खाली कर,
उन्होंने दया की,
मुझ पर उपकार किया,
वे सब समृद्ध रहे अपने में,
लेकिन मैं रीत गया आत्मा को व्यय करके,
बदले में केवल एक कुण्ठा संचय करके।
सोचा था जिनको — ये मेरे है, मैं उनका हूँ,
वे केवल अपने थे,
विश्वासी आंखों के कुछ मिथ्या सपने थे।

जैसे यह धूप हरे खेतों पर
अनायास दो पहर जिन्दगी उडेलती,
ठण्ड से ठिठुर रह तत्त्वों को सेंकती

जैसे वह नदी-नदी चली गयी पगडण्डी,
सूना पथ,
आसमान,
मँडलाती एक चील इतना हूँ
जो सब के होकर भी नही हैं किसी के भी
अब शायद उनका हूँ।

जैसे पत्तियो का खडकना,
या बिजलियो का कडकना
आवाजें, पर अर्थ नही।
जैसे बुलाते हुए आकाश
पर न पहुँच पाते हुए सागर को विशालताएँ
एक दूसरे को पाने मे समर्थ नही।
लोगो के बीच
यूँ ही जीवित हूँ क्या – केवल गँवाया हुआ ?
किसी को उपलब्ध नही,
बेबस भटकाया-सा जन्म जन्मान्तर
सपनो की असत्य पेचदार गलिया म ?

जैसे निम्न घाटियो को नदी
पहाडो की आशिष हो,
और सागर किसी गहरी ममता का महा-कोष
लुटने के लिए फैला हुआ
कि कोई उसे पा जाय।
जैसे सगीत का एक अद्वितीय पल
अँधेरे मे धीरे धीरे घुल रहा हो
और तारो के हजारो फूल

उस साधना की कभी न हाथ आने वाली
दूरिया, शान्तियाँ हो

जैसे एक अतिरिक्त आत्मा
अपने को पहचानने की कोशिश म
इनसे कुछ पूछना चाहती है
ऐहिक प्रयोजनो के दैनिक अपव्यय से
अपने को बचा कर
ऐसी विपुलताओ मे बस रहना चाहती है !

उन उपत्यकाओ मे
वहा, जहा लहरें है
और टूटने से पूव
हवा मे छटपटाते पत्तो की
छिन्न भिन्न छाया,
कोई था
जिसके पास कोई नही आया।

एक लम्बी सजा बाद
पहचानी गयी काई वेगुनाह सच्चाई
जो बन्द थी
भीतर के अँधेरो मे कही

दु ख झूठा है (दुविधा मे)
क्योकि घडियो की प्रतीक्षा

किसी भी पल पूर्ण होती हुई
अभी-अभी
मुझ समेत उन सबको पा लेगी
जिनमें मेरी असंख्य समाप्तियां हैं !

उस रात विचित्र स्वप्न देखा नचिकेता ने

कोई अजीब-सा मन्त्र जाप पूरा कर के,
नवजात एक शिशु को समुद्र में फेंक दिया
अज्ञानी किसी पिता ने।
वह बालक बहता रहा आयु के सागर पर।

सहसा उस शिशु को बोध हुआ —
वह युवक — भयानक प्रलय बाद —
तैरता अँधेरे तूफ़ानी जल पर हताश।
आक्षितिज खौलता सा रक्तिम सागर उजाड़,
पाँवों में सागर बँधा हुआ,
बाँहों में लहरों के पहाड़
संघर्ष — न जिसका आदि अन्त,
प्रारब्ध — न जिसका आर-पार

सहसा आशा की एक किरण ।
प्लावनकारी जल का आतंक फोड़ता-सा
बाहर निकला कुछ दूरी पर
छोटा सा द्वीप — गरजती लहरों से लड़ता।

नचिकेता ऊपर बढता था
पीछे-पीछे हत्यारे पशु-सा दबे पाँव
जल चढता था।
अंतिम सीढी। कोई न दूसरी राह देख,
घबरा कर वह उस देव मूर्ति से लिपट गया।
प्रार्थना एक युग उसी तरह
शायद सशय मे बीत गया
देवता और विश्वास एक हो गये, किन्तु
वह भ्रम भी आखिर रीत गया

जल उन्हे डुबाता और बढा,
फूलता
क्रुद्ध साँसें लेता,
दोनो को अपने जबडो मे भीचे लेता
व्याकुल होकर
सुध-बुध विहीन
रख पाव मूर्ति के कन्धो पर
हो गया खडा फिर नचिकेता।
सहमा सहमा
बिलकुल निराश
वह पल भय से भी आगे का
दमघोट भयानक सपनो से भी कही कठिन
तम के यथार्थ मे जागे का।

खोखला दर्द,
गहरा विराग,
बस, 'होने' भर का थका ज्ञान।

अनुभूतिहीन
वह उतरे हुए नशे-सा जीवन बियाबान।
ऊपर निर्हेतुक सूनापन पागल करता,
नीचे से उठता हुआ सिन्धु,
अपने विश्वासो के कन्धो पर खड़ा हुआ
जीवन का एक हताश बिन्दु।
चेतना-केन्द्र, चिन्तित मनुष्य
भयभीत अधर मे टँगा हुआ,
अस्तित्व – मरण के अधरो से
कुछ बचा हुआ कुछ लगा हुआ
वह चरम बोध का स्वावलम्बी अद्भुत क्षण—
तम मे आकुल
सन्नाटे मे स्पन्दित
ऊर्जस्वी जीवन-कण।—
सब कुछ असृष्ट,
सब कुछ प्रतीक्ष – सन्दर्भहीन,
सम्पूर्ण परिस्थिति एक चेतना से विकीर्ण,
आवृत—
अपरिमित—
तहस-नहस ससार विलय,
आश्रित बस एक चेतना पर विस्तार, समय।

वह मानो किसी आदि कारण का सृष्टि-बीज
अकुलाता गूढ अँधेरो मे,
भवितव्य-विकल तेजस् तारा
घूमता चमकते घेरो मे

देर तक हवाएँ उसके निजत्व से खेलती रही,
उसके अकेलेपन से बोलती रही,
उसके आस पास डोलती रही।
आते-जाते लोग आते जाते रहे,
न जाने किन अस्पष्ट सकेतो से बुलाते रहे
कि मन केवल उदास होता गया।
लगता था किसी भविष्य की कमी है
अन्यथा वह सब जो उठता
जो केवल था। एक पथ भ्रष्ट समारोह
किसी महानतम अवसर की प्रतीक्षा मे—
उदास कि वह शायद कभी न आये।
आसान और सम्मानित जीवन जिया।
फिर क्यो इतना खेद? मानो पाप किया।

सोयी घाटियो की भीतरी अशान्ति,
पछियो की उनींदी अथाह बोलिया—
अकस्मात् गहराइयो से छूटकर
सतह पर तैर आते बुदबुदो सी।
तारे मन मारे
सहस्रो सन्दर्भो मे
एक-एक भाव का नीरव विन्यास,
समझ नही पाते हैं बेचारे

जागते
रात और रात हुई,
तारे और तारे।

गुप्तचर चेहरे
हजारो की खाली निगाहो से
झाँक कर लौट गये।
रिक्त वह
नागपाश नीद की लपेटो मे बँधा हुआ
बूढे जलाशय की अटपट कथाओ मे जिया किया,
महलो मे निर्वासित राज किया।

सीमान्त तक चक्करदार प्राचीरे,
वेष्ठित उनमे सूत-सूत जागीरे।
पिरोयी आखे सदियो से रोती नक़ली आसू,
कही गहराइयो मे वन्द असली मोती
हँसते धीरे-धीरे।
सकुचित — और सकुचित होती गयी।
वे दीवारे, जो जन्म के समय अन त थी।
अन्तत भूगभ का जघन्य सन्नाटा,
साप की तरह लोटती जडें
अतुल धन-राशि से नीली लाश तक
मृत्यु की अतिदर्शी आखे बचा कर।
भोग कर फेंका हुआ शरीर—
बीजो का छिलका,
नमी सोख कर फूलता
और फूल कर बिल्कुल सूख जाता।

एक आँख और कई भुजाओ वाली चतुर माया

उसे कुछ पूछने नही देती
किसी आकपक जन्तु को तरह रोज
उसे अपने पजो म कसती
और चूस कर छोडदेती ।

उसकी निरपराध आखो के अवसान में प्रति दिन
एक सूय की बलि दी जाती,
और वह उस व्यर्थ वेदना की
छटपटाती पराकाष्ठा से गुजरता—
बिना अस्त हुए
बिना शान्ति पाये ।
एक अन्तिम साझ अभी शेष है
साक्षी उन दिनो की जिन्हे उसने
किसी तरह जीवित रखा
निरन्तर सीचकर आत्मा के रक्त से !
समिधा मे किरणो की चमचमाती बछिया
उसे सैकडो निरीह टुकडो मे काटकर
स्वाहा कर देती ह
किन्तु वह मरता नही,
गृहीत होकर
अतल जल के धधकते हुए दीघ सायकाल म
असरय मछलिया बन जाता है—
और वध किया हुआ सूय डूब कर
पुन उसकी ही दुनिया मे उदय होता है ।

प्रलोभन

कामाना त्वा कामभाजा करोमि ॥

पूर्वाभास — प्रीति । यह किन अकुलाहटो से
जन्मता अस्फुट अस्ति-बोध
कि मै फिर नया हुआ हूँ ?
क्या तुमने मुझे इतने आदिम आधार से चाहा ? —
इतने आरम्भ से अपनाया
कि पशुत्व भी प्रीतिकर लगता ?
तुम्हारी वासना से कुछ इस तरह इच्छित होता हूँ
मानो प्रकृति मेरा नही
तुम्हारा प्रतिरूप है
विपरीत दिशाओ मे एक साथ
सुन्दर और असु दर
जिसे नियम देने का हठ ही अनुचित है !

कई पहचानो के बीच भूल गया था
उस एक पहचान को
जिसकी तुम मुझे याद दिलाती हो
प्यार करते

इस तरह अपनाती हो
कि जैसे मैं वापस मिला हूँ
तुम्हे ही नही अपने को भी वहुत दिनों बाद,
किसी परित्यक्त क्षण से
पुन एक अमूल्य अनुभव म परिणत हुआ

दुलार कर मेरी वासनाओ को
तुमने कहा था –
"सो रहो चुपचाप मुझसे लगकर,
अँधेरा वदल जायेगा। सवेरे
मुझे भूल जाना, या
इस तरह सोचना
जैसे मैं स्वप्न में चाही गयी थी। –
यह तुम्हे मुक्ति देगा।
मैं तुम्हारी माया बनूँ,
मुने वस इतना ही सम्मान देकर भूल जाना।
मै शायद फिर भी उग सकूँ
मिट्टी से रसत्व की ओर "

"कौन हो तुम ? तुम्हारी अकुलाहट
मुझमे कही बेचैन है ?
तुम चेहरा नही हो, केवल एक भूम हो
जिससे एक चेहरा वनता ह
और मेरी पहचानने की शक्ति को
आश्वस्त-सा करता। भूम और चेहरा
मिलकर मेरे चारा ओर कोई जगली उत्सव मनाते हैं

शिलाएँ ? या जल-डूबी नितम्बी जंघाएँ ?
ज्वार ? या अधीरता सागर की ?
छलकते जल-कूप की प्रतिध्वनियों की कन्दराएँ –
सोतीं जहाँ गुँथी अंग
नीली गुप्त रोशनी में
नग्न जलपरियाँ

तृप्त तट से हटा
उदास अकेला सागर ।
यहीं गहरे
उसके असन्तोष ठहरे ।
वह जो बीत गया
निष्प्रयोजन-सा एक सुख –
जहाँ से अभी-अभी समाप्त होकर
लौटा वह अनथ और बेस्वाद
मानो कुछ पाकर नहीं – खोकर
ज्वार के बाद
तट को छूते सकुचाता सागर

वह दूसरा कोई अपने को सोचता
जीवन से स्थगित किया हुआ,
मरा नहीं
किन्तु फिलहाल पूरी तरह चुका हुआ –
इसमें न दर्द न उत्साह की तीव्रता,
केवल एक सपाट फीकापन ।
होना

उसी तरह जैसे आकाश का सूनापन ।

बाँहों पर बिखराये केश-राशि ।
तीखी शिखा भरी । विस्मय स्वप्न
उठ जागी ।
पृथु वक्ष पर पिन, विह्वल गात्र
गाति — एक स्वाद थी अधर-समीप ।
आह, किन्तु यह विषाद देह के समीपता !
एक तृप्ति मृण्मयी
विपन्न मुग्ध मरीचिका,
व्यतीत कर मुझे
अथाह प्यास में बुझा गयी !

इस नयी कल्पना को गले से लिपटाकर
मैं केवल विचलित होता हूँ — शान्त नहीं
अर्थ लेता हूँ शब्द — अर्थ पाता नहीं । —
इस नवीन के प्रत्यक्ष सौन्दर्य से
चकित सा होता हूँ, पर हुलसता नहीं ।
यह तृप्ति केवल एक सन्तोष है
जिसमें प्रकाश न दे
चाँद चाँदनियों का मौन अंधेरा,
एक हरा हुआ अस्पष्ट परिणाम
जिसमें नाचता उन्माद का टूटा हुआ देवता
शिखर अवतरण की मर्दना दे.

आह, इतने पाशविक होकर न चाहो कुछ
कि मानव प्रीति जैसी शक्ति भी
सकुचित हो जाये,
हमारा प्यार
केवल वासना जीकर
सदा को रिक्त हो जाये ।

इस अनुभूति को
कोई वृहत्तर नाम दो, —
कि हमने नष्ट होने से बचाया उसे
जिससे कभी हमने अर्थ पाया ।
बूँदो का बालकीय उपद्रव थम चुका ।
यह मेरा अभिमान
शेष परिणाम — तुमसे बच गया मैं,
अटूट मेरा आत्मसम्मान ।
हृदय से उठती हुई मुस्कराहटें
आँखों तक आते-आते नम हो जाती ।
अच्छा होता कि प्रतीतियां कुछ और बढ़ती,
चाहे जिन्दगी कुछ कम हो जाती ।

रक्त में गूँज है इच्छाओं की परन्तु
हर चेहरा केवल कमियों से परिपूर्ण ।
मैं ललच नहीं पाता,
अतः वंचित हूँ । कुछ मैं ही जिन्दा हूँ ज्यादा ? —
कुछ ज्यादा अपूर्ण ?

जैसे बादलो ने खाली कर दिया हो आकाश
सूर्योदय के लिए
सब कुछ एक निरभ्र वन्दना है
आत्म-विजय के लिए।
देखो, ये उज्ज्वल दिशाएँ
कितने सजीव उल्लास से भर गयी हैं।
मेरी अपवाद पीडाओं के स्पर्श से कही
कुम्हला न जाये यह खिला क्षण—
लाओ इसे तोड कर बहा दूँ सूर्य की ओर।

वे जो लौट गयी केवल छूकर मुझे—
छीनती हुई परायी इच्छाएँ
जिनकी व्याकुल माँगो से
मैं विचलित नही, वंचित होता रहा
बाल बाल बचा गयी मुझे
उन तमाम परिस्थितियो मे बँट जाने से
जिनके आतंक, आग्रहो और आक[illegible]
मैं घटा नही, संचित होता रहा।

लगता है जैसे मैं यहा नही
कही और जिया गया हूँ।
अपने लिए व्यग्र होने [illegible]
किसी और हित [illegible] हूँ।
सुखी जीवन [illegible]
बाध [illegible]।

एक भटकती चिन्तनशीलता
जिसके लिए आजीवन कारावास तक की सुरक्षा नष्ट हो चुकी
अब मुक्त है किसी भयानक बाह्यता में,
क्योंकि अब वह जिसके बाहर है
वह बाहर भी मृत्यु की ही तरह
अन्तिम कुछ लगता है।

इन वेदनाओं की तहों तक
मुझको उतरने दो।
नहीं – ये विश्वास अस्वीकार।
केवल सरलताएँ ? – अभी तो अग्राह्य।
कोमल आश्वासन – कठिनतम सन्देह।
मन्त्रों, दर्शनों से –
पूज्य वाणी, गुरु मतों से –
खोज-उन्मुख साहसिकता को दबाने में
जरा संकोच होता है।
न जाने क्यों
व्यथाओं को बिना समझे हुए छल कर
हृदय को सोच होता है।

मैं क्या हूँ ?

बहूनामेमि प्रथमो बहूनामेमि मध्यम

विवश होते हुए या अपमानित,
लज्जित होते हुए या पराजित,
दुखी होते – विमुख होते – सजग होते,
कभी सब मे, कभी सब से अलग होते
अनुभव करता हूँ इन सब के पीछे
कही कोई बृहत्तर योजना जिसमे
मानो किसी अज्ञात हितैषी का हाथ है,
कि जैसे वह निर्लिप्त होते हुए भी
निरपेक्ष नही—उसकी कृपा-सी साथ है।

क्योकि पत्थर है
इसीलिए लहरें गाती है।
क्योकि रात है
इसीलिए तारो को हँसी आती है।
वे जिन्‍ह मेरी चिन्ता थी
अब निश्चिन्त है
शायद इसीलिए अब

मेरे प्रयत्नों की दिशाएँ अनन्त हैं ।

हवा की थपकियों में दिल
अब सो जा ।
हम जिन अर्थों में स्वार्थी हैं
उन्हीं अर्थों में शरणार्थी ।
मुझे किसी विशालतर अर्थ में
उदास रहने दो ।
तृप्ति नहीं यौवन तक,
इतनी प्यास रहने दो
कि आद्यन्त जी सकूँ ।

इस सशयित जीवन निष्ठा को अनष्ट
वनों वीरानों से होकर
सागर की विशालता तक बह जाने दो
किसी तरह,
इतनी आसानी से हार जानेवाली
इस पचभूत सुखाग्रही पशु प्रकृति को मर जाने दो ।
भस्म होते शायद
कोई प्रकाश उपलब्ध हो,
इस प्रपच से छूटते
इतनी मुक्ति कि विरक्त भी जी सकूँ

सारा और साराश जीवन
केवल मेरे लिए सूना है,
क्योंकि दृष्टि है – केवल आखे नहीं ।

जिन दिशाओ मे ससार होते
उनमे आत्माएँ बन्धक है।
मै, मृत्यु-वश,
उनका नही हो सकता —
उनसे विविक्त हूँ।
ऐसा लगता कि मेरे चारो ओर
केवल प्रतिग्रन्थ है – जीवन नही,
लोग हैं – सम्बन्ध नही,
वाणी है जो बाधती नही,
बुद्धिया हैं जो जानती नही।

मेरी नीद – मेरा आस-पास है,
मेरी जागृति – एक व्यथा का आभास है।
ससार आग्रह है किसी स्वप्न का
जो मुझ पर ही आश्रित है —
जिसमे मै बसा नही, किन्तु वशीभूत हूँ,
मानो मै बुना नही – एक अलग सूत हूँ —
छूते ही चीजे मुझमे से छन जाती
और मै विपयस्त हवाओ की तरह
सर्वत्र बिखर जाता हूँ।

राग, रग, भाव, स्पर्श,
रूप, गन्ध, मोह, रस
ये दिखती इच्छाएँ स्वप्न सी अधूरी है—
मुझसे उत्पन्न और मुझमे विलीन
एक निद्रा-भर मेरी हैं। —

लेकिन मै क्या हूँ ?
मैं क्या हूँ ?
मैं क्या हूँ ?

ये चीजें मेरी हैं।
सम्बन्धी मेरे हैं।
धरा, धाम, सखा, बन्धु,
पिता, नाम, वतमान
मुझमे है – मुझसे है – मेरे हैं —
अनजाने, पहचाने, माने, वेमाने
सब मेरे है – मै सबका हूँ —
लेकिन मैं क्या हूँ ?
मैं क्या हूँ ?
मै क्या हूँ ?

टूटी बाहे पसार
शैल मालाओ के क्षितिज पार
बरस चुके मेघो का क्षत-विक्षत सूनापन
रगो मे चिल्लाता ? —
एकाकी, अपने से बहुत बडा उत्पीडन
तडप रहा जिससे सम्पूण गगन,
अपने को अपनी ही सुन पडती पुकार ?

चारो ओर लौह-मौन गुम्बद सा अन्धकार
जिसकी दीवारो से टकराती आवाजे ये
केवल सन्नाटे को और झनझनाती है।
लौट-लौट आती है मुझ तक ही

ये सबकी प्रतिध्वनियां —
मैं क्या हूँ ?
मैं क्या हूँ ?
मैं क्या हूँ ?

ये असाध्य दूरियां जिनका मैं आदि अन्त,
जिनमें भटकता मैं अधसोया, अधजागा
अपरिहार्य छलनाएँ – मैं जिनका घर हूँ,
आकांक्षाएँ – मैं जिनका पर हूँ
जो अपने से ही धोखा खाती,
अपनी असफलताओं से मुँह छिपाती।
जो प्रतिदिन शाम के झुटपुटे में
मुँह डाल कर सो जाती है,
और पौ फटते ही अकेलों की
अथाह भीड में खो जाती है।
संसार पर आरोपित मैं – एक झिलमिलाता बिम्ब
अपनी ही चेतना से विकीर्ण,
अपनी ही मिट्टी से अँधेरा,
चमकते रजकणों के अकुलाते अन्धड-सा
मैं क्या हूँ ?
मैं क्या हूँ ?
मैं क्या हूँ ?

आत्महत्या का प्रयत्न

सस्यमिव मर्त्य पच्यते सस्यमिवाजायते पुन ॥

एक घर
जिसमे न दरवाजे
न बाहर निकलने के रास्ते,
केवल दीवारें,
पेचदार अन्धे गलियारे,
और एक सहमी आवाज़ का
दबे पाव पीछा करते
हत्यारे !

जिधर भागे
उधर आगे पहले ही से एक कठिन अनिश्चय,
पीछे आ खडी होती एक नयी दीवार
जो पहले न थी,
एक डरावनी छाया
और हिचकते पावो को
धमका कर आगे ढकेलते
घातक इरादो के निमम इशारे ।

किसी ओर फांद जानेको जी चाहता है ।
चाहे खाई हो, चाहे आग, चाहे जल –
क्योंकि उन सबसे
कहीं अधिक भयानक है यह छल
जो न जीवन न मृत्यु,
केवल एक दुविधा है दोनोंके सहारे ।

जड़े फूलों की आँखों से ससार को देखती हैं ।
एकान्त
और सबको चाहने वाली हवा
धीरे-धीरे बहती
कानों से कुछ कहती
कन्धे पर हाथ रखे साथ साथ चलती है ।

अवज्ञा –
इस दद मन ने क्षमा जाना ।
उपेक्षित –
अयथार्थ हूँ ऐसे कि मानो अजनबी हैं लोग
पर वीरानियां पहचानती हैं ।

वे पराये लोग जिनकी अमानत था,
परस्पर टूटे हुए से
किसी घातक वाक्य के आघात से

परछाइयों की जालियां हिल्ती ।

अपाट, अन्धी खाइयों से निकल
दग ऊँचाइया बेसब्र
मुझसे गले मिलती ।
पत्थरों के तले का इतिहास करता अट्टहास ।

वधस्थल के निकट
हम सब पशु समर्पित हैं
किसी भी क्षण –
किसी भी क्षण –

दल के दल उमड़ते
तड़प कर दम तोड़ देते अँधेरे बादल ।
पहाड़ी पर बरसते
बूँद बन कर खून-से तारे ? कि गिरते
खिलखिलाती बिजलियों से टूट अगारे ?
बिलख कर लोप हो जाते
सहस्रों हृप-क्षण-तारे ।

खड्ड म मदमत्त सागर
बेतहाशा आँधियाँ पीकर
गरजता, झूमता, उठता,
लहरता, लोटता तीखी कगारा पर ।
कड़क कर लपकते हैं दामिनी के हाथ
मानो घोट देने को गला
नभ-माग से कंकाल दैत्याकार ।

सिर धुन रहे भयभीत लाखो वृक्ष
जैसे विगत से आती हुई
हैरान आवाजे।

बांधे हाथ पैशाचिक
भयानक रूप काले पास बढते चले आते
घेर कर मानो मुझे पी जायेंगे ।

नही,
ऐसे नही – ऐसे नही – ऐसे नही।
जीवन धम है – कुत्सा नही जो नोच डालूँ,
अधोगति को फक दूँ खूरवार कुत्तो के लिए,
या नालियो मे लिथडने दूँ असम्मानित ।
आत्मोत्सग मे तो शान्ति होनी चाहिए,
हिंसा नही।
यज्ञ मे देवार्पित यह द्रव्य ।

बलि के बाद की वेदी सदृश एकान्त
इतनी पास
जैसे किसी बिलकुल निजी दु ख को छू रहा हो।
छटपटाता रक्त
जीने के लिए अब नही
फट कर फैल जाने के लिए हर दिशा मे
जो स्पर्श-लालायित कदाचित्
समपण की इस व्यथा के बाद

केवल मुक्ति हो ।

ओ भयानक अपच्छाया
देह के सीमान्त पर तैनात
काली रात, – मुझको छोड दे,
मै अजनवी हूँ
भूल से पकडा गया हूँ ।

यह ठहराव तीखे मोड पर
वृक्षो तले
रुक कर नदी को सोच लेने दो
कि मै भागा हुआ वन्दी नही हूँ,
सिर्फ, उसकी ही तरह बेचैन मेरी नियति भी अ
महासागर मागती है ।

पहाडो की चोटिया काफी ऊँचाई नही,
न काफी एकान्त,
न प्रकाश,
और न कोलाहल की मारी
थकी, साहसिक उडानो को छू जाता सा
शान्त आकाश ।

घेरा । और बडा घेरा । घेरे पर घेरा ।
ऊँचाइयाँ । ऊँचाइया के ऊपर की और ऊपर ऊँच
अँधेरा । आँखों के पार का [illegible] अँधेरा ।

गुम्फित सितारों का चल खाता अन्धड़।
अग्नि-भुजाओं के शिकंजे में
कुम्हलाते हुए हताश डैने,
सरासर शून्य को धुनते,
वृत्त पर वृत्त बुनते,
गिरते पस्त नीचे।
नीचे – और नीचे – एक नाचता हुआ
वलिकुण्ड – सागर।
विसर्जित लहरों की परिभाषा तक आकर!

जैसे कोई सौ गुना बली
चढ़कर छाती पर खींच रहा हो प्राणों को
लेकिन प्राणी जीवन की अन्तिम शक्ति लगाकर लड़ता हो,
जैसे कोई बेदम पंछी साहस तोड़े
अपने को केवल अन्धकार पर छोड़े जीता मरता हो।
सहसा नीचे कठोर धरती की चोट नहीं
शीतल जल की कोमल गहराई पा जाये।
मानो भय चरम व्यथा हो – मृत्यु नहीं, वह तो
केवल कोई अद्भुत विराम-सा आ जाये।

सहसा नचिकेता को
समय का आभास जाता रहा।
अन्तिम क्षणों में, बस,
जल का हलका-सा कोलाहल
कानों में आता रहा

टूट पडा कुलिश कठिन अन्धकार।
एक ओर सूर्य अश अस्त हुआ।
ढुलक गया एक शीशा क्षितिज पार—
सारा जल रक्त हुआ!

वाजश्रवा

ससार किसी दपण मे प्रतिबिम्बित माया,
छाया-छाया
टुकड़े-टुकड़े
जिसकी निर्वाक् शृखला मे चलता था मन
मानो दृष्टिया दूसरो की पकडे-पकडे ।

दृश्याक्षेप,
जैसे चल-चित्रो भरा हुआ पट सरक पडे,
कमरे भर मे निरपेक्ष अँधेरा भर जाये ।
कोई घोराकृत आस-पास
मानो पैशाचिक अशुभ मन्त्र सा पढ जाये ।
जैसे आत्मा तडपे – शरीर से निचुडे – आगे बढ जाये –
लेकिन टकरा-टकरा कर अपने ही दु ख से
बस, उसी देह के आस पास ही मँडराये ।

जैसे मर्मान्तक एक चीख दीवारो तक मे गड जाये ।
जैसे सदैव के लिए स्याह् परदा दपण पर पड जाये ।

अचेतावस्था मे

तिस्रो रात्रीयदवात्सीगृ हे मे अनश्नन्

लपलपाती एक छाया –
जो कदाचित् आत्मा थी
– अभी काया च्युत –
किसी दुघटित विस्मृति मे फिसलती हुई चलती मन्द
काई के सहस्रो वर्ष गहरे फर्श पर।
सिर पर ढुलकती थी विकम्पित
हरे पानी की छतें –
कुछ पार दर्शी तरल
छन कर बरसता था
एक उलझती रोशनी का पाश
मानो चेतना को – मछलियो सा –
किसी दूषित मन्त्र से बाधे हुए

अँधेरी पड़ती गयी
हर पत जल की – तनिक धूमिल, अधिक धूमिल।
कापती जल तहो को झनकारता सा
त्रस्त सन्नाटा

दबाता चला जाता ।
अथाह् जल तले दीखो
किसी उजडे नगर की सिर पीटती परछाइयाँ ।
ठठा कर हँसती हुई-सी दैत्य चट्टानें ।
गुफाएँ आरियो की तरह तीखे दाँत खोले ।
भूँकते ख् ख्वार कुत्तो सी झगडती क्रुद्ध आकृतियाँ ।
(पवन-सी सरकती जलधार खर सेवार के निस्तब्ध वन से)
हताहत अवयवो का बेचैन हाहाकार ।

एक निष्फल प्रगति का आभास ।
सहसा उन्ही परवश क्षणा मे
यह बलवती इच्छा
कि मछली हुआ होता,
भार जल का बँधा पाँवो म भयानक बेडियो सा
काश, हलका

आह, हत मन पुन सो जा
नीद यदि आये —
विश्व का यह रूप सुन्दर
छेक लेता जो तचित मन,
हो सके तो पुन सो जा किसी छल मे ।
स्वप्न से बाहर न आ,
मत उतर गहरे,
वहाँ केवल मृत्यु-भय से टगे चेहरे ।
दूर तक, बस, दीख पडती

एक धुँधली लीक छूटे चरण चिह्नो की —
और हारी हुई हाकें
माझियो की
थरथरा कर जो अचानक विकट चुप मे
डूब जाती नाचती गहराइयो मे

किसे पाऊँ ? सभी खण्डित, सभी मोहित,
मन्त्र के वश
खिलौनो से चल रहे हैं —
सिर्फ चलने की थकन से
विफलता को छल रहे हैं ।

कहा जाऊँ ?
हर दिशा मे
मृत्यु से भी बहुत आगे की
अपरिमित दूरिया ह ।
किसे अपनाऊँ ? —
कि अपनी निराशाओ का पार पाऊँ ।
कहा है वह बाह, वह विश्वास जीवन सिद्ध,
जो मुझ भटकते को ग्रहण कर ले
और मृतको की सहस्रो पत गहरी
जर्जरित इस सभ्यता के पार पहुँचा दे ?

अतीत-बोध

अनुपश्य यथा पूर्वे

ये खँडहरों से ढँके साम्राज्य ।
ये ईंटों की दरारों से झाँकते सम्राट् ।
ये लुढके पडे ढीले खम्भे—
कि समय की सत्ता के अखण्ड कोदण्ड ?
ये हवाओं में उडे जाते
किसी के रूप के सन्दर्भ ।
ये दुर्द्धर्ष शीश कबन्ध चिल्लाते ।
खनकते कवच-कुण्डल ।
रौंदते अभियान-पथ को अश्व-आरोही ।
कहीं नेपथ्य में हलचल
तुमुल आकांक्षाओं के
क्षितिज के तनिक ऊपर तीर, भाले, धूल

कैसा खेल लगता ।
जीत लूँ चाहूँ
अभी वह अंग — वह कोना
जहाँ ये सब गये हैं

रास्ता करते हजारो वार
हाहाकार, जय-जयकार, करती भीड से ।

वे जो थे,
और हजारो तरह थे,
और जो बराबर होते रहे,
लेकिन जो होने के अलावा
और कुछ नही थे उनकी भी मृत्यु है
जिन्हे क्षणो की तरह जोड-जोड कर
अथाह समय बीता है ।

उन्ही की तरह यह सब जो है
तब भी था जब वे सब थे
जो मरे या मारे गये ।
आज भी वही सब
उतनी ही समाप्तिया के बाद
या उतने ही आरम्भो के पहले ।
हम भी उसी तरह तत्पर – कमरत—
मानो कभी समाप्त न होगे
ये सामयिक वार्तालाप ।
एक दूसरे से बोलने की कोशिश मे
असख्य आवाजे एक दूसरे को पीती हुई—
बेशम जरूरतें एक दूसरे से रीती हुई—
सहसा, सब कुछ शान्त
मानो किसी गहरे आघात के उपरान्त ।
शान्ति एक
जैसे युद्धो के बाद का विवेक

स्मारको की भाषा मे
वे कुछ कह रहे है ।
केवल स्मृतियो मे जीवित,
युगो की थकान से पस्त,
दीवारो पर फटी दरारे
या फूटी किस्मतो की अभागी हस्त-रेखाएँ ?
डूबते हुए कुम्हलाये सूरज की तरह
इनमे एक अनुभव है पर खुशी नही ।
ये स्मारक
अपनी वृहत्तर आयु मे मानो
एक नही कई एक मौतो का कठिन दर्द सह रहे ।

स्मारक ?—
या संक्षिप्त शब्दो म सार सकेत ?
मार्मिक पंक्तियो के बीच डोलते
शताब्दियो के खोखले प्रेत ?
एक ओर वर्तमान—
एक ओर सयोग – तत्काल हम फिर
ठीक अपनी समझ के बल
अपने स्वार्थो मे नाक तक गडे हुए लोग !
दुर्भाग्य
कि मैंने वह समझना चाहा जो मैंने जिया ।
अस्थायी कामनाओ के ठोस सबूत छोड जाने के बजाय
अपनी असारता पर
कुछ इस तरह आश्चर्य किया
मानो जीवन मृत्यु के पहले का बवाल हो
मरी हुई चीजो मे समा कर केवल

आत्मा के निकल जाने का सवाल हो !

पत्थरों में टीसती बेचैन चुप्पियाँ ।
दिशाओं को टटोलती फटी हुई दृष्टियाँ ।
धधकती रात ।
बिलकुल पास से गुजरता
भस्म हवा का एक झोंका
दीवारों के आरपार – निश्चिन्त
कि वहाँ कोई नहीं !
आश्चर्य – मेरा वहाँ होना,
मुझमें उन्हीं इच्छाओं का होना
जो अन्धी हैं – सोयी नहीं !

लौटतीं मुझमें ये स्मृतियाँ
अपनों की – अपनी ही
वहाँ कोई नहीं
अब केवल दुखती है
उन ऊबड़ खाबड़ आकृतियों की तितर-बितर
जिनके असख्या में
ये आँखें कभी भर – खोयी नहीं !

मैं जिनका भविष्य
और समय अपने दिन उनका था ।
आज नहीं । आज सिर्फ

एक हठी प्रश्न मात्र
व्यथा अन्ध चिल्लाता
वादी-प्रतिवादी सन्नाटो के
आर-पार – आभ्यन्तर – "कोई नही ? कोई नही ?"

वह हो, या वे सब हो ।
यह हो, या ये सब हो ।
लाखो यत्न मेरे है   मेरे प्रयत्न
और मुझको ही घेरे हैं ।
इस घेरे का बाहर – कोई नही ।

भविष्य-बोध

प्रतिपश्य तथापरे

दूर कोहरे से
उठती हुई पृथ्वी को पूजता-सा एक दिन।
प्रति दिन निकट-निकटतर
आते हुए अस्पष्ट चेहरो का विराट स्वागत-समूह
जिसमे मैं डूब जाता हूँ।
कही जाते हुए चरणो का कोलाहल,
एक दूसरे को टटोलते हाथो का दीन-स्पर्श,
शोर मे तैरती बाते,
बच्चो की चिल्लाहटे —
मुझे हाथ चाहिए — वत्सल।
नेत्र — ममता से छलछल।
आत्मीयता — जिसकी छाह मे चल सकूँ।
सुरक्षा — जिसकी बाँह मे पल सकूँ।
अमरत्व — जो इन विध्वस यात्राओ का
साक्षी हो।
इस रचना के लिए उत्तरदायी एक ईश्वर दो।

पत्थरो की शक्ल ओढे सो रही
कुछ परी-छवियाँ मुसकराती है।
ईश्वर के जन्म-दिन पर पृथ्वी
फूलो की लोरिया गाती है।
पृथ्वी की अथाह् सम्पदा
मनुष्य का प्यार मागती।
किन्तु वह
आकाश से बिजली को उतार लाता,
पृथ्वी के ऊपर उसे वज्र-सा लहराता।

महलो की रीढ मे बिजली की शक्ति दौडती,
और वे जी उठते
अजीब-अजीब अमानुषिक कलाओ मे,
जिनकी दीर्घायु मे जीवित मनुष्य
पागल-सा लगता है।

कम होती हुई सासो की लम्बाई
बाध्य होकर मुझे उगल देती
अनेक विकृत आकारा मे,
जो मेरी ही तरह किसी
दैवी आशीर्वाद के आकाक्षी है,
और मैं वृक्ष से गिरे हुए फूलो-सा
सिसकती पृथ्वी से लिपट जाता हूँ।

धडकने –
लगता है मेरी बिछी हुई छाती पर

रथ दौड रहे हैं। राज्याभिषेकों और विप्लवों का
एक अनन्त व्यतिक्रम
जिसके जय-नादों, चीखों और चीत्कारों से
मैं जाग-जाग जाता हूँ
लेकिन, वन की तरह, अपने किसी रहस्य में
छिप जाना चाहता हूँ।
मुझे कोई न पा सके
इस तरह अपने को पा जाना चाहता हूँ

आत्मा तडपती है।
वस्तुओं को विभाजित करने वाली रेखाएँ अँधेरे में
रंगहीन एकरंग हो
मुझे वस्तुओं के आकर्षण से अलग कर देती है।
– और इतिहास मुझे छोडकर आगे बढता है

समय के केंचुल-सरीखा रास्ता।
मार कर खाया हुआ-सा पडा
चारों ओर खाली नगर-पंजर
लुंज दीवारें—
सहारे
डरी, सिकुडी पडी
कुछ परछाइयाँ।

रात—
ये भग्नावशेष

चादनी के कफन मे लिपटे हुए-से
किसी गैवी मन्त्र के आघात से मानो
हजारो साल गहरी नीद मे कुछ वडवडात

उनकी ओर से टूटी हुई वाते ।
अय मे — आहूत मैं
उस भूत-नगरी की भयानक चेतना म चौख पडता हूँ ।

मेरा हाथ पकडे एक वालक साथ ।
मेरी उँगलियो मे किसी न हे स्नेह का सस्पश—
"अव घर चलो "
मेरे लिए जिम्मेदार उसका प्यार,
उसके नेत्रो की सरल जिज्ञासा,
जहा मै पुन अपने भविष्यो में दीखता हूँ—
उपस्थित,
उपलब्ध,
पूण आश्वस्त ।

क्षण भर ममत्व की स्मृतियो म
विश्राम मुझे कर लेने दो ।
कण-कण की पीडा से मेरी
कातर आत्मा को लिपट लिपट रो लेने दो ।

ये रज-कण अव भी मरे नही

इनमे जो उठने की मानो क्षमता गहरी
इस मिट्टी मे
अब भी जीवन की गन्ध भरी।
इसमे अगणित संसारो का अवसान-उदय,
स्पर्श पुलक यह अमृतमय
क्षण-भर मुझको—

पर, आह
नही थम पाते मेरे तरल पाव।
जल का झावा

पीछा करती आवाजो का रोना-धोना,
हत्यारे हाथो का समीप — बिल्कुल समीप —
आते जाना। बे-दम पाँवो का घुटनो पर से टूटापन
बढने की कोशिश करना
पर धँसते जाना।
दलदल की तरह धसकती धरती,
छूते ही लगता
मानो उठती कराह।
छाया है चारो ओर विषैला लाल धुआ।
पानी पर बहता कुहरे का
ढीला प्रवाह

यह किसी गुफा का मुँह।
बजती-सी सन्नाहट, "अन्दर आओ—

अन्दर आओ—"
यह किसका यन्त्र-स्वर
अनन्त आदेश कही रटता है ?

दस्तके और दस्तके
किन्तु लोहे का जडा कपाट
नही हिलता है।
यह प्रहरी
पत्थर के दानव-सा डटा
नही हटता है

"अन्दर आओ – अन्दर आओ –"
यह जिद्दी स्वर
क्यो बार-बार
इतना अधीर हो उठता है ?

यम

वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यो

यह कैसी खण्डित छाया
मेरे साथ साथ चलती है ?
ये आँखे है या अग्नि कुण्ड ?
या आधी रात कछारा पर
दो साथ चिताएँ जलती है ?

यह किसके चलने की आहट
आगे पीछे, दायें-बाये आती-जाती ?
किसकी छाया के पडते ही
हर चीज तुरत कुम्हला जाती ?

अपशकुन ।
घसिटते हुए पैर ।
पाँवो म घावो के निशान[1] ।

---

१ पुराणों में एक कथा इस प्रकार है कि एक बार यम ने क्रोध में अपने पिता की दासी छाया, पर पद प्रहार किया जिससे क्षुब्ध उसने यम को शाप दिया कि उनके पाँवोंमें फोडे हो जायें । बादमें पिताके अनुरोधसे यम शाप मुक्त हुए । यमका नाम इसीलिए, कहा कहा 'शीर्ण पाद' भी मिलता है ।

यह लुज पुज आकृति जैसे
अधमरा साप लोहूलुहान ।

यह सशय — पशु है ? या मनुष्य ?
या इसमे केवल जहर भरा ?
यह स्वय मृत्यु है ?
अथवा मृत ? —
या दोनो का अनुभव गहरा ?[1]

वे हाथ नही
हत्या के निर्मम यन्त्र मात्र — केवल प्रहार ।
दो वधिक इशारे
जीवन की गदन के ऊपर बार-बार ।

क्या वन की हरियाली पर यह
सन्ध्या का ताजा रक्त
लाल अशुक-सा मुझको दिखता है ? —
या किसी महा-दानव का शव है हरा-हरा
जो नही जलाये जलता है ?[2]

तप रहा अँधेरा बिना ज्योति ।
यह किसकी गम साँस

---

१ यमको प्रथम मृतक भी माना गया है जिसका अनुसरण करनेके लिए हर प्राणी बाध्य है ।

२ यमका शरीर हरा और वस्त्र लाल माना गया है ।

लपटो-सी झुलसाती ?
लगता है
दैत्याकार जो उठा यह जगल,
मुझको घेरे यह
अम्बर को विस्फार, पार तारो के
रीता हुआ समय,
यह समय नही – साकार एक वोतापन,
अपरम्पार प्रलय

ऐसा तो नही कही यह सब
मेरे ही मन मे छिपा चोर
मेरा भय हो ?
कोई विपावत मानसिक रोग –
कोई कीडा जो मुझमे था
बढ कई गुना
अब विपम परिस्थितियो मे बाहर निकला हो ?
अपना विकार
जिसको मैंने ही उगला हो ?
पागलपन मे अपने हो को दे डाला हो
कोई विनाश का कठिन शाप
मानव होकर मानव के ही विरुद्ध मैंने
कर डाला हो कोई जघन्य अक्षम्य पाप ?
यह मृत्यु मूर्ति –
साक्षात् मृत्यु –
समवेत मृत्यु –

जीवित ही द्वारा निर्मित हो
जीवन को खा जाने वाली ?
यह बुद्धि –
कल्पना –
शक्ति –
हमारी हो
हम पर ही आफत बन आने वाली ?

पर, नही,
क्रूर ही नही
दिव्यता भी है इसमे ।
कही-कही करुणा भी और वेदना भी

वे ओठ हिले
मानो कुछ कहना चाह रहे,
पर बोल न पाते है सहसा, नि शब्द
बोलते लगते-से ।
ठहरी आँखो मे कभी-कभी
गति के आभास छलक आते
निश्चेष्ट पुतलियो के वीरान हाशियो मे
डरते-डरते
जीवन के चिह्न झलक जाते ।

वे शब्द नहीं – केवल प्रयास ।
भाषा की केवल गूँज मात्र ।

कुछ अर्थ
शब्द-सीमाओं से बाहर के भी
पहुँचाने का निष्फल प्रयत्न।
नर-मुण्ड एक सवज्ञाता
कुछ बतलाता।

मानो शताब्दियाँ बीती हों
जिस मुँह को केवल चुप रहते,—
पाषाण-मूर्ति
केवल निरीह जीवन की
प्रति क्षण बलि लेते,—
सहसा विचलित हो उठे। लगा ऐसा मानो
उस काई-जमी शिला ने
अपने जकड़े मुँह को खोला हो
कल्पों का गहरा मौन तोड़ उस पल
अस्ताचल बोला हो
मानो
सहमा आक्षितिज कड़क कर
बिजली ने छू लिये प्राण।
तड़का ढीले दपण-सा—
डर कर समा गया
प्राणों में चिटका आसमान।

लगता था मानो वही काल
विपरीत मन्त्र पढ़ना जिसमें
पृथ्वी अपना मुँह खोल-खोल
मुर्दों को उगल देती थी,

खाली जगहो मे बढ-बढ कर
जिन्दो को निगले लेती थी।

–

"मै महाकाल – सहार रूप —
मै महा-समर
युग-युग से चलते युद्धो का
प्राथमिक और प्रतिशोध रूप
मन की अशान्ति,
क्रूरता,
ध्वस
मेरे असख्य अवतारो को
प्रत्येक इकाई के अन्दर
दो बीच
और बहुतायत से
देखा तो होगा, नचिकेता ?"

"लेकिन मै केवल घात नही,
वह तो जीवन ही से पैदा
कोई जीवन नाशक विकार।
प्रत्येक पुराने पर विराम,
मैं प्रारम्भिक रचना-क्रम भी "

"प्राकृतिक शक्तियाँ वश मे हो—
ऐसी भी शक्तिया मनुष्य मे हो।"

"देवता प्रसन्न हो यज्ञ-भाग से,
मनुष्य के भक्ति और अनुराग से "

"शक्तिशाली प्रकृति मेरे अनुकूल हो -- मनुष्य कहता—
मुझे समृद्धि चाहिए —
वश की वृद्धि चाहिए —
यश, प्रसिद्धि चाहिए —
स्वर्ग की निधि चाहिए -- चाहिए -- चाहिए "

"बोल नचिकेता, तुझे क्या चाहिए ?"

जिज्ञासा

नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित्।

("ले ले मुझसे अद्वितीय यह जीवन
दूना सुखमय वापस।
ज्ञान कठिन ज़िम्मेदारी है।
जी ले पहले नयी वयस!
– श्रम, साधना, अनिश्चय, चिंतन, मनन, खोज
जिज्ञासाओं मे
अकसर उदासीन जीवन व्यतीत हो जाता।
खोज सत्य की करने वाला
बहुधा उसमे ही खो जाता।")

"सुख, सुविधा, विश्राम नही
कुछ और ध्येय है।
कभी-कभी लगता
यह जीवन अपरिमेय है,
समा नही पाता जो दैहिक स्वप्न परिधि मे।
जाग-जाग पडता अकुला कर

अपनी माँदी तृष्णाओ के
झूठे जग से धोखा खाकर ''

''हँसमुख छलनाओ के मति-मोहक इंगित पर
भटक-भटक मन टूट चुका।
बार-बार वरदान न दो वे
जो मुझको स्वीकार नही। –
वही विमूढ व्यर्थ जीवन फिर ?
वह पागल ससार ? – नही।''

''यौवन से सन्तुष्ट न होती
जीवन की परिभाषाएँ
पकड नही वह – स्पर्श मात्र है,
एक नशा भर – जिसके साथ-साथ चलती हैं
गहरी आत्म निराशाएँ।
जीवन पूर्ण कृतार्थ न होता
इन ऐन्द्रिय आभासो से।
कुछ है जो असिद्ध रह जाता,
अपमानित-सा होता
जैसे तर्क अन्धविश्वासो से।
जो कुछ अब भी पा सकता हूँ
मुझको मिला हुआ था। दूना उसका ?–
जिससे तन-मन इतना थका हुआ था ?

''अभी और कितनी दृढ़ता से

मुझे विमुख होना होगा ?
किस तरह मरूँ ?
ये सरल प्रलोभन कब तक मुझे न छोड़ेंगे ?
कैसे निर्जीव वस्तुओं के आकर्षण से
छेंकी आत्मा को मुक्त करूँ ?
किस तरह कहूँ —

"यह मन अशान्त है
हिंसा के पागलपन से।
कब तक विडम्बनाओं से हृदय न ऊबेगा ?
यदि यही बुद्धि की दशा हमेशा बनी रही
तो स्वर्ग मिलेगा नहीं
मिला तो डूबेगा।

"मुझको इस छीनाझपटी में विश्वास नहीं।
मुझको इस दुनियादारी में विश्वास नहीं।
हर प्रगति-चरण मानव का घातक पड़ता है।
हम जीते आपा धापी और दबावों में।
हम चाहे जितना पायें कम ही लगता है
कुछ ऐसी रखी है तरकीब स्वभावों में।
यह दुनिया — यह भविष्य —
तुमको सादर वापस।
मिल सके अगर तो
एक दृष्टि चाहिए मुझे —
जीवन बच सके
अँधेरा हो जाने से, — बस।"

श्रेष्ठ का वरण

श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते

छा गयी उसी क्षण मानो गहरी शान्ति
जिस समय नचिकेता ने अडिग
ज्ञान का वरण किया।
जिस पल शरीर की मांगों को स्थगित किया,
माना —
जीवन केवल सुख की साधना नहीं।
वह दिव्य शक्ति —
अनवरत खोज
अनथक प्रयास
वह मुक्ति-बोध,
उसको पशु-सा केवल तन में बांधना नहीं।

जो केवल तन से जिया
मूर्ख वह
तन के मरते मरता है।

हम वस्तु नही है – वस्तु स्थित ।
सुख का पीछा
जैसे अपनी दुमका पीछा करता कुत्ता –
वह स्वय-स्वय मे अनुपस्थित ।

वह वरण नही
मानो खो देना था अपनी पहचान एक ।
आकार एक
जैसे आकृति की शर्तो से बाहर आये, –
सन्दर्भ-रहित,
पूर्वानुरागो से टूटा अस्तित्व, किन्तु
अपनेको सिद्ध न कर पाये ।
नभ मे भटके,
जल को थाहे,
क्षण मे
त्रिकाल जीना चाहे
लेकिन अपने को पुन न सीमित कर पाये ।

१

श्रेष्ठ का वरण

श्रेयो हि धीरोऽभि प्र

छा गयी उसी क्षण मानो गहरी शान्ति
जिस समय नचिकेता ने अडिग
ज्ञान का वरण किया।
जिस पल शरीर की मागो को स्थगित किया,
माना –
जीवन केवल सुख की साधना नही।
वह दिव्य शक्ति –
अनवरत खोज
अनथक प्रयास
वह मुक्ति-बोध,
उसको पशु-सा केवल तन से बाधना नही।

जो केवल तन से जिया
मूर्ख वह
तन के मरते मरता है।

हम वस्तु नही है – वस्तु स्थित ।
सुख का पीछा
जैसे अपनी दुमका पीछा करता कुत्ता –
वह स्वय-स्वय मे अनुपस्थित ।

वह वरण नही
मानो खो देना था अपनी पहचान एक ।
आकार एक
जैसे आकृति की शर्तो से बाहर आये, –
सन्दभ-रहित,
पूर्वानुरागो से टूटा अस्तित्व, किन्तु
अपनेको सिद्ध न कर पाये ।
नभ मे भटके,
जल को थाहे,
क्षण मे
त्रिकाल जीना चाहे
लेकिन अपने को पुन न सीमित कर पाये ।

सारथी बुद्धि

बुद्धि तु सारथि

जीवन सम्बन्धित शरीर मे
पर शरीर-सापेक्ष नही है।
जैसे गतिमय वस्तु
गति नही,
किसी अपरिमित के अनुभव का
परिमित मे सयोग मात्र है।

सुख-दुःख की अनुभूति भिन्न
जीवनानुभूति से।
वाहन से
वाहक का मूल उद्देश्य अलग है।

व्यक्ति दास ही नही देह का
स्वामी भी है।
अनुशासित ही नही
मुक्त अनुशासक भी है इच्छाओ का।
लक्ष्यहीन ऐन्द्रिय विचरण तो

इतना सुन्दर
इतना असह्य
जो शायद केवल मृत्यु तले
सन्दिग्ध क्षणों के बीच जिया जा सकता है।
जो बाधित नहीं मृत्यु से
बल्कि आकलित हो।
यदि पीना ही हो जहर
उसे दो तरह पिया जा सकता है—
डरते-डरते
मरने से पहले ही मर कर।
या उसी चरम भय से
कोई अन्धा बल पा,
जीवन से भी ऊपर उठ कर।

तुमको अपनी
घोरतम निराशा से ही बल लेना होगा।
मृत संस्कारों से अपना जीवन खाली कर
उस खाली-पन को नया मर्म देना होगा।

केवल शरीर के लिए नहीं
तुमको शरीर के बावजूद जीना होगा।

सृजक-दृष्टि

न त्वा कामा बहवो लोलुपन्त

केवल सुख से ही अब तू सन्तुष्ट न होगा ।
तुझको मूल रहस्य
—नया विश्वास चाहिए ।

तुच्छ देह—
दैहिक अनुभव की मर्मान्तक चोटों ने
तुझमें भर दी है विकराल तिक्तता ।
असमय तेरे राग-बोध में
समा गयी है महाकाल की विकट रिक्तता ।

इस प्रतीति के बाद
असम्भव है अब तेरा
दैहिक-दैनिक स्तर पर जीवन जीते रहना ।
तुझको मर्त्य नहीं
अमर्त्य का तोष चाहिए ।

तेरे भीतर घिरा अँधेरा
दूर न होगा सूय, चद्र से ।
तुझको अपने भीतर
नया प्रकाश चाहिए ।

अब यह जग पर्याप्त नही है ।
यह प्रदत्त ससार
तुझे स्वीकार नही है ।
अपना कुछ विशेष
अब तुझको रचना होगा ।
अपने ही भीतर उठते
इस महाप्रलय के
अन्धनाश से बचना होगा ।

तुझमे अब कृतित्व का कारण—
कारण को आकाश चाहिए ।
तुझमे सृष्टा की व्याकुलता,
उसको एक विकास चाहिए

पाल-पोस कर बडी की गयी इच्छाओ से
अब तू ज्यादा बडा हो गया ।

तू वह अतृप्त है जिसने
जीवन को मथ डाला है—
जिसने सपनो से जग कर

उनको देखा भाला है ।
वह आलोचक है
जिसने दुनिया के दोष निकाले !—
उस निर्माता का हठ है
जो शायद मतवाला है !

तेरी आँखों में अक्षय जीवन की
एक ललक है । वह दिव्य भाव – इन्द्रियों परे —
जिसकी नश्वर में केवल
फीकी-सी एक झलक है ।
जग एक सुखद सपना है
कुछ सीमित निद्राओं भर
पर तू अमर्त्य आँखें है,
(आकाश-भरा तारों से) जो
सदियों से अपलक है !

तू वह चिन्तक उपवासी जो एकाकी रह सकता ।
वह निश्चय
जो जीवन भर
पीड़ाओं में जी सकता ।
वह उद्वेलित सागर जो
भरपूर भरा जीवन से,
पर सूना-सूना लगता ।

कोरे तत्त्वों से घेरी चेतना
अनाम कृती की । —

त्यागे अपूर्ण जीवन को
जिज्ञासा एक व्रती की । —
हो सकता है, नचिकेता,
तू खोजे किन्तु न पाये
(जीते जी देख न पाये)
यह दुनिया, इससे अच्छी,
अपने अज्ञात कृती की ।

आत्म शक्ति

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्तस्मात्पराङ्
पश्यति नान्तरात्मन्

"नचिकेता, तू केवल
इन्द्रियो की अपेक्षा ही उदास है।
उस अव्यय आत्म चेतना को पहचान
सच्चिदानन्द रूप
जो शुद्ध ज्ञान है तुझसे दूर नही
तेरे ही आस-पास है।

"यह तुझसे उत्पन्न हुआ ससार
स्वप्न है तेरा ही —
तेरी इच्छाओ का विकास है। —
तेरे आत्म-बोध से छनती हुई ज्योति का
खाली पट पर एक अनगल छाया नर्तन।
उससे मत अधीर हो,
केवल मन को कर सयमित
उसे तू नया अर्थ दे — नया माध्यम
आत्म-शक्ति पर निर्भर हो कर।

"तू पायेगा —
बाहर के इस अन्धकार से
कहीं बड़ा भीतर प्रकाश है।
"तेरे होने और न होने का
बाहर से अधिक पुष्ट
भीतर प्रमाण है।
उसे सिद्ध कर
तू पायेगा —

वही स्रोत है।
वही मुक्ति है।
वही त्राण है।"

आत्मा की स्वायत्तता

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि ।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥

एक समाप्ति
सारे अस्तित्व की इति नहीं ।
स्थूल की क्षति
सार की क्षति नहीं ।

तुझसे प्रमाणित यह जीवन
तेरे न होने पर भी होगा ।
तेरी आवश्यकताओं से अथित—
तेरे सयोग से अनुप्राणित—
तेरी वाणी से उच्चरित—
तेरे कर्मों से चरितार्थ—
सम्पूर्ण विश्व-बोध
सहस्रों वस्तुगत आभास
तेरे बाद भी जन्म लेंगे,
तुझे एक सत्ता देंगे,
और तुम अपने अन्तों के
प्रत्येक असन्तोष से

फिर शुरू होना पड सकता है।

लेकिन तू आत्मा की
एक ऐसी स्वायत्तता बना
जिसमे जीवन को
वस्तुओ के शासन से मुक्त जी सके।
जहा अपनी इच्छाओ के अन्तर्विरोधो से
समाप्त होकर नही – उन्हे समाप्त करके
जीवन को कोई सन्तुष्ट अर्थ दे सके।
मरने से पूर्व
उऋण हो सके
उन सब से जिनकी अपेक्षा
तू जीता या मरता है।

मृत्युमुखात्प्रमुक्तम्

अङ्गुष्ठमात्र पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति ।
ईशान भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ॥

मैं तुझको जीवन फिर से वापस देता हूँ ।
यह जिम्मेदारी
फिर से तुझे सौपता हूँ ।
मैं आदि अन्त की तुलनाओ के बिना तुझे
जीवन-धारा मे पुन बहाये देता हूँ ।

परिवर्तनशील
असिद्ध
वही ससार पुन
तू सक्रिय सक्षम
शक्ति
चिन्तन,
मै तुझमे निहित
परिस्थितियो का सही ज्ञान ।
तू रचनाशील
चेतना का कण-कण मे प्रसार ।

तू यही समझ कर जी
तुझको फिर मुझ तक वापस आना है।
तू मेरा है।
श्रद्धा के किसी पूत क्षण मे
तूने अपने को स्वेच्छा से
निर्लोभ—
काल को सौंपा है।
तेरा भविष्य अब मेरा है।
तुझको भविष्य के लिए
इस तरह जीना है
मानो वह मुझसे प्राप्त हुआ है तुझको।

मृत्युम् खात्प्रम् क्तम्

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न
बभूव कश्चित् ।

किसी सदियों दूर अन्धी कन्दरा को
लोप दूरी सितारों के बीच खोयी
और दोनो ओर रखी
मूर्तियां कुछ —
दृष्ट से अदृष्ट तक
निक्षिप्त लाखों मूर्तियों की दूरियां
छायाभ – छायाभास – का आभास – आगे शून्य से आगे

सबसे समीप थी
वाजश्रवा की उदास मूर्ति ।
फटी हुई अपलक आँखों में
अधूरी मृत्यु ।
जीवन के अंतिम रहस्य को सहसा
पा जाने का गहरा अचम्भा ।
अन्य – सदियों मृत-उदासीन चेहरों की अपेक्षा
केवल उदास – सबसे कम मृत,

उस रेखा के पास जहाँ
जीवन तो टूटता
किन्तु जीवन से मोह नही टूटता।

नचिकेता को लगा
वह प्रतिमा अभी मरी नही,
न कठोर हुई,
न उसमे काल की अनन्तता व्यापी है
उसमे अपनत्व की
एक सघन व्यथा अभी बाकी है। —
वह अगाध ममता जो
जीवन की साक्षी है। —
महाशक्ति
सृष्टि-बीज
जो घसीट ला सकती चाहे तो
मृत को भी मृतकों की घाटी से,
जड को भी
धरती की अन्तरतम छाती से।

उन व्यथा-भरी आखो की
टँगी हुई पुतलियो मे
नचिकेता के अन्तिम सन्ध्या की उदासी थी।
मानो उस दर्द को
जीते नचिकेता ने एक बार
जीते वाजश्रवा ने बार बार सहा हो

सहसा भर आयी नचिकेता की आँख फिर,
जैसे वह अभी तक न जीवन से टूटा हो।
जैसे मन गहरे अँधेरे को चीर-फाड
ऊपर को खिचता हो।
जैसे वह अग हो प्रतिहत वाजश्रवा का
अभी भी, कट कर जो मरा नही,
मूल की तडप से तडपता हो।
और आगे
पिता-तुल्य कुछ परिचित आकृतिया।
और आगे
रुकी हुइ भावहीन मुद्राएँ
चेहरे
विलीन
एक सूनापन चेहरा सा
मानव कुटुम्ब
एक धागे म —
धागा भर
बहुत दूर जाकर अशेप एक ज्योति पुज
अकुर-सा।

अन्धकार
अन्धकार
घटाटोप अन्धकार।
एक बीज अकुलाता
आदिम अँधेरो म

स्वप्नान्त

स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति ।

यह कैसा कोलाहल है मेरे आसपास ?
ये लोग मुझे क्यों घेरे हैं ?
धुँधले चेहरे
परिचित-से
किन्तु अँधेरे हैं ।
जल के परदे के पीछे
बहते बहते-से अस्थिर चेहरे
क्या मेरे हैं ?

ये आवाजें क्या कहती हैं ?
मैं कानों से क्या सुनता हूँ ?
यह भीड़ क्यों नहीं छँट जाती ?
ये लोग क्यों नहीं हट जाते ?

उफ, कितनी तीखी है असह्य रोशनी यहाँ
आँखों में मिर्चों सी लगती ।
ये लोग मुझे क्यों नहीं अभी सोने देते ?
ये मुझे जगाने के उपक्रम—

ये मुझे बचाने के उपक्रम—
क्यों नहीं अभी
निर्विघ्न मुझे सोने देते ?

क्या मैं सचमुच ही जीवित हूँ ?
क्या जीवित ही
मैंने जीवन को खोने का अनुभव जाना ?
क्या मैं सचमुच ही मरा नहीं—
मरने से भी कोई गूढ़तर मम जाना ?

क्या सब कुछ खोकर
जो कुछ मैंने पाया है
मृत्युंजय जीवन है
जो वापस आया है ?

मैं जाग्रत हूँ।
इस कोलाहल के आर-पार
प्रत्यागत किरणों की ऊर्जस्वी सन्नाहट,
जड़ताओं तक में प्रवहमान
मैं जाग्रत हूँ—
उपराम, अधूरी दुनिया से
आकस्मिक टूटे जीवन का
अविनष्ट भाग
कण-क्षण में स्पन्दित
पुन नया
प्रत्यूष और यह पुनर्जन्म
मैं जाग्रत हूँ—

सम्पूर्ण बोध
हो चुका काल को जो अर्पित
जीवन में वापस आया
वह शोधित प्रसाद,
मैं
सभी दिशाओं में प्रति क्षण
उत्पन्न
विभासित
आरम्भित,
अनुसृष्ट नहीं — सृष्टा स्वरूप
लाखों निर्माणों में गलता ढलता
कोई अव्यय भविष्य
मैं जाग्रत हूँ—
मैं जाग्रत हूँ—

सहसा घना होता स्वर।
जब घर निकलते आकार।
दिखते पृथक् - पर संयुक्त।

नींद।
गहरी नींद।
थकती पलकें—
मानो सह न पाती हों
सहस्रों सूर्यों की झलक

पूर्वापर

नैषा तर्केण मतिरापनेया

हम शायद अपने संस्कारों में बचते हैं।
ये प्रतीक — अनुष्ठान
जिनको समझने में
युग से युग बीते हैं
शाश्वत संकेत मात्र जीवन का,
इसीलिए हम शायद
जीवन को स्वयं सिद्ध जीते हैं।

यह जूठन ही सही
हमने जिसे पाया है,
किन्तु वह प्रसाद है
देवतुल्य पितरों का अमर आशीर्वाद
अनुक्षण जिस ताज़ी अनुभूति में
उनके अवतारों को
हम धारण करते हैं
उनके संसारों को
हम जीवित रखते हैं।

धर्म तो वह भी है
जो कुछ निभ जाता है।
कर्म तो वह भी है
जो कुछ हो जाता है।
लेकिन वह समयजात एक आत्म दीक्षा है
जिसमे हम जीवन का खालीपन भरते हैं।

आदि अन्त मूँद कर
जिसने हमे संशय म डाल दिया
क्या कभी उसको भी
हम समथ दिखते हैं?
यह आदेश कि हम रुके नही—
यह आदश कि हम थके नही—
क्या किसी लक्ष्य की पूर्ति सी लगती है?
अथवा हम जीवन भर
इस भ्रम म जीते हैं
कि जो कुछ हो जाता है – हम उसको करते ह,
जो कुछ सह जाता है – हम उसको सहते हैं

इस विभ्रम से विशिष्ट
एक और दुनिया है
केवल निर्माता की
जिसमे हम बार-बार नये जन्म लेते हैं
झुठलाये जीवन को फिर मावित करते ह
कोरे भविष्यो को मस्कार देते हैं।

सृष्टि-बोध

य पूव तपसो जातमदभ्य पूवमजायत

अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ [illegible] सुभृतो गर्भिणीभि

यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं

वह अनुभव जिसे मैं जी चुका
एक जीवन था।
वह जीवन जिसे मैं मर चुका
एक रोमांचकारी अनुभव था—

जागृति यह—
सृष्टि के आरम्भ वाली शान्ति जैसे।
रोशनी की एक भोली खलबली से भर
चिटकता क्षितिज—
जैसे अप्रकट स्वरूप का कोई अजन्मा बीज
उर्वर धरा के प्राणद रसायन म
अचानक मुक्ति का संकेत पा कर
सिर उठाये विस्तरित हो
किसी आतुर सृष्टि का

दुस्साहसी अकुर स्वय घोपित
अनिश्चित आदि घटना
किसी भावी के लिए तैयार ।

जागृति यह—
जो मुझ ही से
जिन्दगी को छीन
मुझको जि दगी को सौंप देती है ।
उस भयानक रात्रि को मानो
नया तात्पय देती है ।
कि जसे उस निशा ने
यही कोई चेतना-सी गुप्त
भावी को बराबर घेरती थी — घटित होने के लिए,
अति शून्य से
अति रूप होने के लिए ।—

रात मानो
उन रहस्यो की अँधेरी मन्त्रणा थी,
सूय उस षड्यन्त्र का कोई सफल विस्फोट है ।

पूव परिचित चेहरो-से वे सितारे
रात की स्वप्नान्त मौतो मे
मुझे सोने न देते ज्योति के सकेत
अगणित सूर्यो की शपथ खाते—
'अभी दिन होगा तुम्हारा
क्योंकि तुम
निमाण की ईश्वर-व्यथा मे
जागते हो ।'

एक ही आलोक के विस्तार म आँखें
क्षितिज तक
पुन निर्मित सृष्टि को
पहचान लेती ।

शब्द—
पहला शब्द—
हर व्यक्तित्व
अपनी सृष्टि में सारांश म
अणुवत् अकेला है ।
उसे सन्दर्भ देना है ।—

रसायन पूर्ण मिट्टी म
जगाती प्राण
रस सिद्ध सूर्य की किरण ।
तपे कुन्दन सरीखे
चमकते आकार ।

सौन्दर्य-बोध

एक अद्भुत प्रेरणा-सी
सूक्ष्मतम अनुभूतियो मे डोलती है,
राग के गन्धर्व
रस के दूत
हाहाकार मे भी सुरक्षित,
संवेदना सौन्दर्य के प्रति खोलती है।

हंस शुचिता
प्रकृति उज्ज्वल
चित्र सी मानस हृदय पर,
किरण गीले रंग भरती
नृत्य लय पर,
बुद्धि
जीवन-सत्य के कुछ श्लोक शाश्वत खोजती-सी
भूमि पर पहले पहल मनुष्यत्व के तेजस् उदय पर
कल्पना
उस शिशु-जगत् को लोरियो मे ऊँघती है।
बाल मानवता
धरा के अंक म लेटी हुई सी,
या कमल के पालने म
…मती है ?

उस हलाहल अतल तम को
सोखती शिव-जगमगाहट ।
वह प्रकृति के होंठ पर
ऋतजा अकुण्ठित मुसकराहट ।
यह प्रथम आश्चर्य का निर्दोष ब्रह्म-मुहूर्त
जिसमे
देवताओं के अमर ससार की
उत्फुल्ल आहट

बेझिझक सुख-बोध
जिसकी वासना मे वन्दना थी ।
वह निडर ससार
जिसकी आस्था मे निहित
दैवी मन्त्रणा थी ।
सूर्य को कन्दुक बना कर
खेलता था नृपत् ईश्वर,
और पृथ्वी
स्वस्ति चिन्ता किसी माँ की
अटपटाती अर्चना थी ।

शान्ति-बोध

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति

सूर्योदय ।
एक अजलि फूल ।
जल से जलधि तक अभिराम ।

माध्यम शब्द-अर्थोच्चरित ।
जीवन धन्य है ।
आभार—
फिर आभार ।

इस अपरिमित मे
अपरिमित शान्ति की अनुभूति ।
अक्षय प्यार का आभास ।

समर्पित मत हो त्वचा को
स्पर्श गहरे मात्र ।
... लेकर मद्धन्य सुख । जल-वेडियो ...

कहीं ऊपर।
कहीं गहरे ठहर कर आधार – मूलाधार।
जीवन – हर नये दिन की निकटता।
आत्मा – विस्तार।

मुक्ति-बोध

महान्त विभुमात्मान मत्वा धीरो न शोचति

यह भी सम्भव है
कि अपने और दूसरो के बीच
अनिवार्य अन्तरो को दूर तक सोचूँ
सोचता रहूँ
ध्रुव से विवेचनीय तक,
यहाँ तक कि सारा ससार
मेरी दृष्टि मे
सिकुड कर तिल बराबर रह जाय,
और इसे जब चाहूँ मूँद कर
अँधेरे मे घोल दूँ ।—

स्वय अदृष्ट
इसी माया-वस्तु को
बार-बार धारण करूँ—इसी भोग सामग्री को ग्रहण करूँ—
इससे छूटा रह कर ।
अपनी अपूर्व रचना मे
एक कलाकार ईश्वर की तरह अनुपस्थित

आत्मजयी

अथाह समय मे जियूँ—

केवल आत्मा

अमरत्व

और आश्चय

महाशून्य मे निर्वासित,
अपने ही सपनो को बनाता मिटाता,
घातक श्रद्धाओ के बीच—

नैसर्गिक !

अनुपम !

अद्वितीय !

अपने को हमेशा के लिए
सुरक्षित कर लूँ
दूसरो के सरल आश्वासनो और फूहड पहचानो से।
मैथुन
मैत्री
ममत्व
महत्त्वाकाक्षाएँ
क्योकि इनके अन्त तक आकर भी
पूर्ण नही हुआ।
क्योकि इनके पूर्व निश्चित परिणामो मे
घटित होकर भी मरा नही
बार-बार अक्षुण्ण लौट आया हूँ।
क्योकि इन समाधानो के बीच
चौंक-चौंक कर पूछता रहा हूँ—

"जीवन क्या है ?
मृत्यु क्यों ?
मुक्ति कैसे ?
ईश्वर कहाँ ?"



होते हुए भी वह किसी अमर अर्थमें जी सकता है। उसके लिए तब यह चिन्ता सहसा व्यर्थ हो जायेगी कि जीवन कितना असार है उसकी मुख्य चिन्ता यह होगी कि वह जीवनको कितना सारपूर्ण बना सकता है।

विश्वासोंसे
या किसी विचित्र तर्कसे ही
जीनेको कोई अर्थ दिया जा सकता है
इतना विराट
इतना सुन्दर
इतना असह्य
जो शायद केवल मृत्यु तले
सन्दिग्धक्षणोंके बीच जिया जा सकता है!

यदि पीना ही हो जहर
उसे दो तरह पिया जा सकता है—
डरते डरते
मरनेसे पहले ही मरकर!
या उसी चरम भय से कोई अन्या बल पा
जीवन से भी ऊपर उठ कर

• • • • • •

नचिकेताका पितासे मतभेद और पिताका क्रोधमें पुत्रको मृत्युको दे देना न केवल नयी और पुरानी पीढ़ीके संघर्षका प्रतीक है बल्कि उन सनातन वस्तुपरक और आत्मपरक दृष्टिकोणोंका भी प्रतीक है जिनका एक रूप हम अपने आजके जीवनमें भी पाते हैं एक ओर निरन्तर बढ़ती हुई भौतिक उन्नति और दूसरी ओर आत्मिक स्तरपर वह घोर असंयम जो इस भौतिक प्रगतिको अपने ही लिए अभिशाप बनाये ले रहा है। युगकी इस पीड़ा और युग मानवकी इस व्यथाके सन्दर्भमें 'आत्मजयी' सहज ही और भी विचारणीय कृति हो उठती है।

• • • • • •